द्वारा सहायता प्राप्त

कालिदास और उनका युग

भगवतशरण उपाध्याय

संपादक

न्यायाधीश श्री चन्द्रभान अग्रवाल

उत्तर प्रदेश सरकार
द्वारा सहायता प्राप्त

कालिदास और उनका युग

भगवतशरण उपाध्याय

संपादक
न्यायाधीश श्री चन्द्रभान अग्रवाल

भारतीय विद्याभवन, इलाहाबाद

स्थापित : १९५२

सभापति

न्यायाधीश माननीय श्री चंद्रभान अग्रवाल

उद्देश्य

१. भारतीय संस्कृति के कला, दर्शन, धर्म, भाषा, साहित्य, और इतिहास आदि विविध अंगों—के विषय में अध्ययन, शिक्षण, शोध और प्रचार करना।

२. भारतीय संस्कृति की एकता का ऐसे प्रभावों, आंदोलनों, अभिप्रायों, विचारों और सृजनात्मक एवं जीवनदायिनी स्फूर्ति के रूपों के अध्ययन द्वारा पोषण करना, जिनसे कि विभिन्न युगों में उसने अपने को एक धारावाही प्रक्रिया के रूप में प्रकट किया है, ।

३. भारत और संसार के अन्य देशों के सांस्कृतिक संपर्कों को प्रोत्साहन देकर सभी जातिओं के भ्रातृभाव और अंतर्जातीय एकता के लिए प्रयत्न करना।

४. भारत के आध्यात्मिक दाय और आधुनिक जगत के वैज्ञानिक चिंतन के बीच समन्वय स्थापित करना।

विद्याभवन गृह-भारती—१

संपादक : चन्द्रभान अग्रवाल

१

कालिदास और उनका युग

भगवतशरण उपाध्याय

विद्याभवन गृह-भारती

कालिदास और उनका युग

भगवतशरण उपाध्याय

प्रकाशन मन्दिर
भारतीय विद्याभवन, इलाहाबाद
१९५६

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण : २०००
मूल्य ३)

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

पद्मा को

प्रकाशकीय

भारतीय विद्याभवन, इलाहाबाद द्वारा कविकुल गुरु कालिदास के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें स्वभावतः अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। प्रकाशन के क्षेत्र में हमारा यह प्रथम प्रयास है।

महाकवि कालिदास सुरभारती के लाड़ले कवि थे। भारतीय जीवन के स्पृहणीय प्रसंगों पर उनकी कृतियों के समान मोहक प्रकाश डालनेवाली कृतियाँ बहुत कम हैं। वे प्रकृति के सखा थे और सृष्टि के अणु-अणु में रमे हुए आनन्दों के साथ विचरण करने वाले जीवन-द्रष्टा थे। मानव जीवन के जिन शाश्वतिक सत्यों का उन्होंने उद्‌घाटन किया है, वे आज भी सर्वत्र अजर-अमर हैं। उनकी रसवन्ती वाणी में सुधा की माधुरी है और वे सचमुच निर्जीवों में भी प्राण फूंक देने वाले अमरगायक थे। देववाणी संस्कृत के अक्षय भाण्डार में उनकी प्रत्येक कृति एक-एक वैदूर्यमणि के समान जाज्वल्यमान है। उनका साहित्य विश्व के विशाल वाङ्मय में अपना उच्च स्थान रखता है और संसार के प्रत्येक अंचल के सहृदय जन आज भी उनकी कृतियों का रसास्वादन कर कृतकृत्य हो उठते हैं। ऐसे महान् भारतीय कवि की अर्चना के रूप में हम भारतीय विद्याभवन की प्रथम पुष्पांजलि अर्पित कर रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के सुविख्यात लेखक श्री भगवतशरण उपाध्याय हिन्दी की एक उज्ज्वल प्रतिभा हैं। उनके गंभीर अध्ययन एवं नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का प्रसाद उनकी वाणी एवं लेखनी में सर्वत्र पदे-पदे प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में उनकी मान्यताओं का हिन्दी जगत में सम्मान हो चुका है। स्वभावतः हमें उनकी इस बहुमूल्य कृति को पाठकों

के हाथों में देते हुए विशेष प्रसन्नता हो रही है। आशा है, विद्वज्जन हमारे इस प्रयास का उचित मूल्यांकन करेंगे।

इस पुस्तक के प्रकाशन के लिये उत्तर प्रदेश सरकार ने भवन को आर्थिक सहायता प्रदान की है—इसके लिये भवन उनका आभारी है।

प्रयाग
५-११-५५

चन्द्रभान अग्रवाल

दो शब्द

आज बाईस वर्षों से कालिदास के ग्रन्थों को साध रहा हूँ, पर साध पाया नहीं। कौन साध पाया कालिदास को? साधना चकित-थकित हो जाती है, पर ऊबती नहीं, क्योंकि कवि सदा नये लोक निरावृत करता जाता है, नई भूमि पर उतारता जाता है।

प्रयत्न यह पहला नहीं है, अन्तिम भी नहीं। कवि की सत्ता अपरिमेय है, उसका साहित्य चिरन्तन। इसलिए उसकी सीमा भी नहीं बाँधी जा सकती। उसके अध्ययन के प्रयास होंगे, उसकी शक्ति की ही भाँति अनन्त। पर यह तो उसका अध्ययन, अवगाहन भी, नहीं, परिक्रमा मात्र है। उस रुचिवान पाठक के लिये, जिसने कवि को नहीं जाना है, संकेत मात्र यदि उस पाठक ने इस दुर्बल सूत से कवि को जाना, उस तक जाने की राह देखी तो निःसन्देह यह अकिंचन अपना प्रयास सफल मानेगा।

—लेखक

विषय-सूची

१. पहला परिच्छेद—पूर्व युग १३

२. दूसरा परिच्छेद—कालिदास के पूर्ववर्ती ३३

३. तीसरा परिच्छेद—स्थान और काल ४०

४. चौथा परिच्छेद—काव्य ग्रन्थ ५०

(१) ऋतु संहार ५०
(२) मेघ दूत ५७
(३) रघुवंश ६८
(४) कुमार सम्भव ७६
(५) रघुवंश और कुमार सम्भव के कुछ स्थल ८६

५. पाँचवां परिच्छेद—नाटक ९३

(१) मालविकाग्निमित्र ९४
(२) विक्रमोवर्शी ९४
(३) अभिज्ञान शाकुन्तल १०१

६. छठां परिच्छेद—शैली ११७

७. सातवां परिच्छेद—कालिदासयुगीन भारत १२२

(१) समाज
(२) आचार, मनोरंजन, फर्नीचर आदि १३५
(३) गान और नृत्य १४३
(४) चित्र-मूर्ति-मृण्मूर्तिकला १४६
(५) भवन निर्माण १५३
(६) आर्थिक स्थिति १५७
(८) धार्मिक जीवन १६८

८. कविगणगणनारम्भे १८२

पहला परिच्छेद

पूर्वयुग

अपने युग का प्रभाव सभी पर पड़ता है। मनस्वी से भी मनस्वी; एकान्त वैयक्तिक चेतना वाला व्यक्ति भी अपनी परिस्थितियों के प्रभाव से रहित नहीं हो सकता। वह स्वयं अपने युग पर गहरा से गहरा प्रभाव भी चाहे डाले पर निःसन्देह वह उसी प्रकार अपनी परिस्थितियों से ख़ुद भी उसी मात्रा में प्रभावित होता है।

कालिदास अपने युग के निर्माता हैं—अपने युग के साहित्य के, संस्कृति के। वैसे ही अगले युगों के भी। उनके साहित्य के, संस्कृति के, जीवन के। भारतीय संस्कृति का व्यक्तिरूप में अकेला प्रतिनिधि अगर कोई पूछे तो उसका असन्दिग्ध एक शब्द में उत्तर होगा—कालिदास। संस्कृति और जीवन की एकनिष्ठ, एकस्थ घनता जितनी कालिदास में है उतनी अन्य किसी एक व्यक्ति में नहीं। वह अपने और अगले युगों के उसी प्रकार प्रतीक हैं जिस प्रकार पिछले युगों की एकत्र सम्पदा। जिन परिस्थितियों ने, युगों की संस्कृति ने, इस महाभूत समाधियों से बने महामना कालिदास का सृजन किया, उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक दृष्टि डाले बिना हम कालिदास की महान् आत्मा को भी नहीं

समझ सकेंगे। इसलिए पहले उस पूर्ववर्ती युग के इतिहास पर एक नज़र डालें।

मौर्यों का अन्त दूसरी सदी ईसवी पूर्व में शर्मनाक हुआ। बौद्धों और जैनों की दुरभिसन्धि पिछले मौर्यों की नैष्ठिक राजनीति बन गई थी। बाहरवालों को अवसर मिला और उन्होंने देश की कमज़ोरियों पर, उसके रन्ध्र पर, प्रहार किया। मौर्य-साम्राज्य पुराने मकान की तरह हिला और भहरा कर गिर पड़ा, उसका यशस्वी विशाल कलेवर अपने ही मलबे में खो गया।

देश पर भयानक हमले हुए। सिकन्दर ने ईरानी साम्राज्य तोड़कर जो अपना साम्राज्य खड़ा किया था वह वारिस के अभाव में अनेक टुकड़ों में बँट गया था। सिन्धु नद, वक्षु नद (आमू दरिया) से ग्रीस तक, कास्पियन सागर से नील नदी के उपरले काँठे तक सर्वत्र ग्रीकों का ही राज्य था। दूसरी सदी ईसवी पूर्व में एशिया के पूर्वी प्रान्त पार्थव और बाख़्त्री (बलख़, वह्लीक आदि) स्वतंत्र हो गए। आमू दरिया के तट से बैक्ट्रिया के नये ग्रीक केन्द्र से भारत पर भयानक हमले शुरू हुए। देमित्रियस् ने, जिसे युगपुराण ने 'धर्ममीत' और खारवेल के शिलालेख ने 'दिमित' कहा, पाटलिपुत्र तक धावा किया। पच्छिम की ओर से माध्यमिका (नगरी और चित्तौर) की राह देमित्रियस् ने और पूरब की ओर से मथुरा और अयोध्या की राह उसके दामाद मिनान्दर (मिलिन्द) ने भारत की उस प्राचीन राजधानी पर हमला किया। समकालीन वैयाकरण महर्षि पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में नोट कर लिया—अरुणद् यवनः साकेतम् अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्। मगध पर यवनों (ग्रीकों) का शासन स्थापित हो गया और यदि

युक्रेतिद के घर के सिंहासन पर अधिकार कर लेने के कारण उसकी रक्षा के लिए देमित्रियस् सपद स्वदेश न लौटता तब देश पर क्या बीतती, नहीं कहा जा सकता। फिर भी कुछ कम नहीं बीती। पाटलिपुत्र में काफ़ी नरसंहार हुआ। वर्णाश्रम-धर्म छिन्न-भिन्न हो गया। साम्राज्य के प्रान्त बिखर गये, राजा विनष्ट हो गये (नश्येरन् च पार्थिवाः)। 'दुष्ट विक्रान्त यवनों' की चोट का यह नतीजा हुआ।

समूचे सिन्ध, पंजाब और पच्छिमी उत्तर प्रदेश पर यवनों (ग्रीकों) का अधिकार हो गया और वहाँ उनके राज क़ायम हो गये। उनके अनेक नगर (यूथीदामिया, पत्तल, दिमित्री आदि) खड़े हो गये, अनेक ऐसे भी जहाँ ग्रीकों के अपने स्वतंत्र मुहल्ले थे। तक्षशिला और साकल (स्यालकोट) ऐसे ही नगर थे। इन नगरों में उनके दार्शनिकों ने अपने दर्शन गुने, खेलाड़ियों ने ओलिंपिक खेले, ज्योतिषियों ने नक्षत्र सोचे, कलाकारों ने मूरतें कोरीं, रंगमंच के अभिनेताओं ने अपने रंगमंच खड़े किए और इन सब का अपने देश की संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। हमारे ज्योतिष के पाँचों सिद्धान्तों में दो—रोमक और पौलिश—ग्रीकों के हैं। हमारे राशि-चक्र उनके दिये हैं, हमारी जन्मपत्री का नाम, 'होड़ाचक्र', उनका दिया है, हमारे विवाह का सब से पुनीत लग्न 'जामित्र' उनका 'दायामेत्रों' है। आश्चर्य नहीं जो हमारे ज्योतिष-शास्त्र के महान् ग्रन्थ गार्गी-संहिता के रचयिता ने लिखा—"यवन म्लेच्छ हैं, पर चूँकि हमारे ज्योतिष शास्त्र के वे अनुसन्धाता हैं इससे हमारे लिए वे देववत् पूज्य हैं।" कला के क्षेत्र में तो ग्रीकों के योग से अपने देश में एक विशिष्ट 'गान्धार-शैली' ही चल पड़ी जिसने हमें बुद्ध की पहली मूर्ति दी। रंगमंच

भी हमारा उनके व्यापक संबन्ध से संपन्न हुआ। उनकी 'यवनिका' ने हमारे रंगमंच पर पर्दों की लहर बाँध दी।

फिर हमले हुए, शकों के, कुषाणों के। ईसवी संवत् के आरंभ होने के कुछ पूर्व ही ग्रीकों की दिखाई राह से शकों ने भारत पर हमला किया। उनका क्रूर नेता अम्लाट भारत के हृदय पाटलिपुत्र जा पहुँचा और वहाँ जो उसने नरसंहार किया उसका वर्णन, प्रायः आँखों देखा, 'युगपुराण' ने किया। युगपुराण कहता है कि नगर और प्रान्त पुरुष-विहीन हो गये हैं। सर्वत्र नारियों का ही राज है, सारे काम वही करती हैं, हल तक वही चलाती हैं। पुरुष कहीं देखने तक को नहीं मिलता और जो कहीं दीख जाता है तो नारियाँ विस्मय से चिल्ला उठती हैं—आश्चर्य! आश्चर्य! बीस-बीस नारियाँ एक पुरुष से विवाह करती हैं।

ऐसी स्थिति में देश पर क्या बीती होगी, कहना न होगा। पाँच-पाँच प्रान्तों से समूचे देश के स्वामी होकर शकों ने भारत पर शासन किया, सदियों। शक द्वीप (सिन्ध) से, तक्षशिला से, मथुरा से, मालवा-उज्जैनी से, महाराष्ट से। उनके दिये शक द्वीपी ब्राह्मण हमारे लिये सूर्य की पूजा करने लगे, उज्जैन में हमारे ज्योतिष का केन्द्र (ग्रीनविच) स्थापित हुआ, शीघ्र ही बाद कनिष्क ने जो हमें संवत् दिया वह शक-संवत् हमारे पञ्चाङ्गों और जन्मपत्रों का प्रिय साका बना। और उनके उज्जैनी के शक-नरपति रुद्रदामन् ने हमें शुद्ध संस्कृत के सुललित गद्य की पहली शैली (१५० ई० का गिरनार-लेख) प्रदान की। कुषाणों की कला-साधना तो इतनी फली-फूली कि हमारे देश का आँगन उसकी अनन्त विभूतियों से भर गया। हमारे शिवतम-सुन्दरतम की पृष्ठभूमि कुषाणों ने प्रस्तुत की। उनके महायान की भक्ति,

कला का रस, देवों की सम्पदा, यक्षों का हास्य-लास्य, हमारे जीवन के अंगांग को भर चला, उसमें भिन गया।

इसी पृष्ठभूमि से गुप्तकाल उठा जो अपने वैभव और बहुमुखी सम्पदा के कारण भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहलाया। और उस युग की सब से प्रौढ़ मेधा, सब से सुकुमार कल्पना, अभिरामतम भाव-राज्य, वसन्त की मदिरतम मंजरी हमें कालिदास के रूप में मिली।

अशोक ने जीवहिंसा कब की बन्द कर दी थी। जब तक जिया उसने अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन किया, उससे पुत्रवत् स्नेह किया। पर उसकी सन्तान उसका प्रकाश न पा सकी, अन्धकार में डूब चली। राजा का बेटा बिरला ही धीमान होता है। उसके पिछले वंशधर स्वयं तो शक्तिहीन हुए ही ब्राह्मण-धर्म पर कुठाराघात ही करना उन्होंने अपना धर्म समझा। याग-कर्म बन्द हो गये, पुरोहिताई बन्द हो गई। जनता के असंख्य परिवार ऐसे थे जो यज्ञ-क्रियाओं से ही अपने को धर्मवान् मानते थे, उनके लिये कुछ भी धर्म रूप से करना न रह गया। उधर विदेशी हमलों ने समाज के सारे अनुबन्ध तोड़ दिए।

अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ के पुरोहित-सेनापति ने राजा को मार कर गद्दी पर अधिकार कर लिया। सारे देश में सदियों ब्राह्मण-कुल राज करते रहे। पुष्यमित्र ने यज्ञ-कर्म फिर से शुरू किए। ब्राह्मण-धर्म लौटा, संस्कृत भाषा लौटी। बौद्ध ग्रीकों को देश पर चढ़ा लाए। पुष्यमित्र ने उन्हें देश से बाहर कर अश्वमेध किया, महर्षि पतंजलि उसके ऋत्विज बने। पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र ग्रीकों को ढकेलते सिन्धु नद तक जा पहुँचा और इधर

का सारा देश उसके पितामह के अधिकार में आया। बौद्धों के विपरीत जो प्रतिक्रिया हुई उसके परिणामस्वरूप पुष्यमित्र ने साकल (स्यालकोट—उस ग्रीक राज मिनान्दर की राजधानी जो बौद्ध होकर उस पर चढ़ आया था) में घोषणा की—यो मे श्रवणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि—'जो मुझे एक श्रवण (बौद्ध-भिक्षु) का सिर देगा उसे मैं (सोने के) सौ दीनार दूँगा।' पाटलिपुत्र से जलन्धर तक सारे बौद्ध विहार उसने जला डाले। 'मनुस्मृति' लिखवाई, जिसकी लीक पर कालिदास के रघुवंश के राजा चले, जिसमें ब्राह्मण भूसुर बने, राजा देवताओं का देववत् पृथ्वी पर प्रतिनिधि। और स्वयं पुष्यमित्र दोनों था, ब्राह्मण भी, राजा भी।

शीघ्र वर्णाश्रम धर्म अपने प्रकृत रूप में फिर खड़ा हुआ। सूत्रों-स्मृतियों ने नये रूप धारण किये। देश फिर भी ख़तरे से ख़ाली न था। पुष्यमित्र के मरते ही सारे पंजाब में फिर ग्रीक-पार्थव, राजाओं के राज खड़े हो गये। उनके हमले अभी लोगों को भूले न थे और शास्त्रियों ने अपनी स्मृतियों में अनेक नये विधान किये। बाल-विवाह भी विशेष गौरव से चला। हमले की दशा में पति अकेली पत्नी की जिस मात्रा में रक्षा कर सकता था अनेक कन्याओं का पिता कन्या की उस मात्रा में नहीं कर सकता था। गौरी रूप में ही अष्टवर्षीया के दान की व्यवस्था जन्मी। जीवन नई दिशा में बह चला था, प्राचीन सूत टूट गये थे।

अशोक ने स्तंभों से, स्तूपों से, देश भर दिया था। प्रकृत धर्म को पुनः स्थापित कर चुकने पर पुष्यमित्र शुंग को फिर बौद्ध धर्म से कोई द्वेष न रह गया था। देश की बौद्ध कला को उसने अपनी संरक्षा दी। साँची-भरहुत के मौर्य स्तूपों की प्राकारवेष्टनी

(रेलिंग) कला और शैली की नई शक्ति से, नई निखार से, चमकी। उनके द्वार-तोरणों के शिल्पी पुष्यमित्र के मूल निवास विदिशा के हाथीदाँत के कलावन्त थे। बौद्ध मौर्यों की कला-गंगा में, ब्राह्मण शुंगों की यमुना बह चली।

हिन्दू जाति अपनी नई विरासत लिये खड़ी थी, नये हिन्दू धर्म की। बौद्ध-जैन धर्मों के वर्ण-विद्रोह से, बौद्ध संघ और उसकी वर्ण-संबंधी उदारता से, नई विजयी विदेशी जातियों के प्रभाव से देश में एक नई हलचल ने जन्म लिया था, सहिष्णुता जिसकी प्राणवायु बन गई थी। इतनी विभिन्न विदेशी जातियाँ जिस देश के आँगन में उतरें और लौटने का नाम न ले, वहाँ बस जायँ, उस देश में सहिष्णुता का होना तो स्वाभाविक ही अनिवार्य होता है, फिर यहाँ तो समाज-व्यवस्था के विपरीत धर्म का आँगन वैसे भी विस्तृत था। नई जातियाँ जो आईं तो वे अपने साथ अपने भाव-विचार, अपनी भक्ति-विश्वास सभी लेती आईं। शक अपनी सूर्य-पूजा लाये और उसे यहाँ उन्होंने प्रचलित की। जब उन्हें यहाँ सूर्य-पूजा से परिचित पुजारी न मिले तो वे अपने पुजारी लाये जो यहाँ शकद्वीपी ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध हुए। सूर्य की पहली मूर्ति जो बनी उसका पहनावा देखने ही लायक़ था, मध्य-एशिया का—सिर पर ईरानी पगड़ी, बदन पर भीतर लंबा कुरता घुटनों से नीचे तक, बाहर पैरों तक पहुँचने वाला क़सीदेदार चोगा, नीचे पैरों में ऊपर घुटनों को छूने वाले ऊँचे मध्य-एशियाई बूट, और घाँघरेदार सलवार। बग़ल में ख़ंजर। यह है भारतीय देवता की वेश-भूषा!

कुषाण जो पहली सदी ईसवी में पहुँचे तो उनका राजा अपने सिक्कों पर सारे मध्य-एशिया, ग्रीकों, ईरानियों, चीनियों,

शकों के देवता उतारे आया, और यहाँ पहुंचते ही यहाँ के बुद्ध और शिव भी उनमें शामिल कर लिये। पहले भी भारत के अनेक भाग—पंजाब और सिन्ध—विदेशी (ईरानी) शासन में रह चुके थे, उस संबंध का भारत को ख़ासा लाभ भी हुआ था, परन्तु अब से पहले अब की तरह भारत का प्रायः हर भाग विदेशों के संपर्क में इतना कभी न आया था। ग्रीकों के शासन से सिन्ध और पंजाब का गहरा संबंध बैक्ट्रिया (आमू दरिया की घाटी) से हुआ सही पर शकों के शासन ने तो इस देश को पश्चिमी एशिया और चीन से गहरा बाँध दिया। शक देश के कोने-कोने तक पहुँच गये। स्वयं उनका संबंध दजला-फ़रात की घाटी से तो था ही साथ ही वे अपने को ईरानी राजाओं का प्रतिनिधि कहते और क्षत्रप-महाक्षत्रप के रूप में उनकी ओर से ही इस देश पर शासन करते थे। प्रगटतः उनका संबंध उधर पच्छिम से बना था। भारत के स्थलीय व्यापार को उस दिशा में बड़ा बल मिलता था। सामुद्रिक व्यापार तो कब से ही चल रहा था, अब कुछ ही पहले से वह और भी रोम-मिस्र की दिशा में तेज़ हो गया था। हिन्दू-शकों के प्रतिनिधि तट घूम, समुन्दर लाँघ, जावा-सुमात्रा में उपनिवेश खड़े करने लगे थे। चीन के साथ स्थल और जल दोनों मार्गों से व्यापार और धर्म-संबन्ध हो गया था। इसे शकों ने अपने बाख्त्री के केन्द्र से और बढ़ाया। कनिष्क इधर तो पाटलिपुत्र तक धावे करने लगा था, उधर दक्खिन-पूर्वी ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, कश्मीर, आमू दरिया की केसरभरी भूमि, चीन की सीमावर्ती रियासतें, सभी पर शासन करता था। उधर दूर के रोम तक उसके दूत आते-जाते थे। भारत पच्छिम पूरब के राजमार्ग के बीचोबीच खड़ा था, संसार के केन्द्र के रूप में। और संसार के व्यापार का

ख़रीदार जिस प्रकार पच्छिम में रोम था, संसार के माल की सब से बड़ी मंडी उसी प्रकार पूरब में शकों की लाड़ली उज्जैनी थी, जहाँ चीन और सीरिया के स्थल-मार्ग और रोम और पूरब क समुद्रों से आती सड़कें मिलती थीं। फिर देश सहिष्णु क्यों न हो ?

अपने शासन-काल में भारत से संपर्क होने पर सभी एक-एक कर उसके विविध धर्मों में दीक्षित हो घुलमिल गये। वैष्णवों की भक्ति उस दिशा में विशेष आकर्षक सिद्ध हुई। भगवद्-गीता का अपना शक्तिम और आकर्षक संसार कभी का खड़ा हो चुका था। गीता प्रायः तभी लिखी गई थी जब ग्रीकों के भारत पर पहले धावे शुरू हुए थे। उसमें विष्णु-भक्ति का अपना मनोरम संसार था जिसको शक्ति और विविधता में शीघ्र ही बाद महायान बौद्धधर्म ने निज का योग दिया। दल के दल ग्रीक परम भागवत, परम वैष्णव बन रहे थे। अभी ब्राह्मण शुंगों की शक्ति मध्यदेश और मालवा में क़ायम हो थी कि ग्रीकराज अन्तलिखिद के दूत हेलियोदोर ने बेसनगर में विष्णु का स्तंभ खड़ा कर दिया। हेलियोदोर दिय का पुत्र था। उसका यह स्तंभ अशोक के स्तंभों के बाद पहला था, और विष्णु के स्तंभ के रूप में या धार्मिक स्तंभकारिता के क्षेत्र में सर्वथा पहला। यह उस सहिष्णु युग की महान् मर्यादा थी कि भारत के सबसे लोकप्रिय धर्म का पहला स्तंभ विदेशी ग्रीक ने खड़ा किया।

शकों ने तो शिव की पूजा पराकाष्ठा तक पहुँचा दी। उज्जैनी के महाकाल की महिमा प्रायः उन्हीं के राज्य-काल में इतनी बढ़ी। हिन्दुओं के साथ उनका विवाह-संबंध स्वाभाविक रूप से होने लगा। अनेक शक राजा शैव थे और उन्होंने अपने

नाम सर्वथा हिन्दू रख लिये। रुद्रदामन् शिव का असाधारण उपासक था और 'पञ्चसिद्धान्तिका' (ज्योतिष-ग्रन्थ) का रचयिता वराहमिहिर जितना ईरानी था उससे कहीं अधिक शक, पर दोनों से अधिक प्राकृत हिन्दू।

ग्रीकों के पहले इस देश में चाँदी के नितान्त छोटे अत्यन्त कुरूप बिना किसी सही आकार के छपे हुए सिक्के चलते थ। ग्रीकों के संपर्क से बड़े-बड़े सुन्दर गोल रूपायित सिक्के चलने लगे। अब उन पर देवताओं की आकृतियाँ राजा के नाम आदि भी होने लगे। सिक्कों के इतिहास में ग्रीकों की यह देन असाधारण मानी जायगी। शकों ने उस दिशा में अपना गहरा योग दिया। पच्छिम का व्यवसायी समुद्रतट जो ग्रीकों को प्रायः अलभ्य था, गुजरात, सौराष्ट्र आदि के राजा होने के कारण शकों को सुलभ था, और व्यापार में सिक्कों का अधिकाधिक उपयोग होने के कारण उन्हें ढालकर अधिक से अधिक संख्या में प्रचलित करना पड़ा। शकों के हाथ से शासन छीन लेने के कारण सारा मालवा, सारा गुजरात और तटवर्ती सारा सौराष्ट्र जो गुप्त नरेशों के हाथ में आ गया तो उन्हें केवल उनकी व्यापार-सम्पदा हाथ न लगी वरन् सिक्कों का आकर भी अधिकार में आ गया और उन चाँदी के सिक्कों को फिर से अपने नाम से छापकर गुप्तों ने उस भूभाग में चलाया। ग्रीकों, शकों, और कुषाणों की यह सिक्कों के धन और कला की विरासत गुप्तों को मिली। वह सिक्कों की कला अपने स्वर्णमय रूप में जब गुप्त सम्राटों के हाथ से सँवरी तब उस स्वर्ण-युग की यशःशाला का एक स्तम्भ इन सिक्कों ने ही खड़ा किया।

जहाँ इस प्रकार के सौजन्य और सहिष्णुता का अभियान

चल रहा था वहाँ एक दिशा से भारतीयता के नाम से भी एक आन्दोलन चला। राजनीतिक और सांस्कृतिक शुद्धता की देश में एक लहर सी उठी और विदेशी शकों से जा टकराई। इसके नेता ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों थे—मध्यभारत के वाकाटक ब्राह्मण राजा और पद्मावती (पदमपवायाँ—ग्वालियर, मध्य भारत) के क्षत्रिय भारशिव नाग। शकों से सांस्कृतिक क्षेत्र में तो वस्तुतः किसी प्रकार का डर न था। वे देश की जनता से घुलेमिले जा रहे थे, यहाँ के देवता-धर्म भी उन्होंने अपना लिये थे। परन्तु उनका राजनीतिक महत्व निश्चय उदीयमान शक्तियों को पसन्द न था। शक राजाओं ने महाराष्ट्र और मालवा से दक्षिणापथ के प्राचीन सम्राट-कुलीय आंध्र-सातवाहनों से दीर्घ-कालिक संघर्ष किया था; उस ब्राह्मण राजकुल को उन्होंने उखाड़ तक डाला था। साथ ही उसी पच्छिम की ही दिशा में, महाराष्ट्र में ही, एक नई विदेशी प्रबल शक्ति उठ रही थी और उन दोनों से उसने सफल लोहा लिया था। वह जाति आभीर थी। उसके नेता प्रसिद्ध साहित्यकार शूद्रक के पुत्र ईश्वरवर्मा ने आभीरों का जो उधर साम्राज्य क़ायम किया और किसी समय पाटलिपुत्र तक दण्ड धारण करनेवाले सातवाहनों तक की बची शक्ति उन्होंने उखाड़ फेंकी तब उत्तरापथ में बड़ी हलचल मची। वाकाटकों और भारशिव नागों ने उत्तर में वह कहानी फिर से न दुहराई जाय इस पर कमर कसी। दोनों में समर्थ भारशिव नाग थे। कन्तित (ज़िला मिर्ज़ापुर) और पद्मावती से उठकर उन्होंने कुषाणों से लोहा लिया। दूसरी-तीसरी ईसवी सदियों में कुषाण कनिष्क के वंशधर अब भी उत्तर-पच्छिम, मथुरा आदि के स्वामी थे। भारशिवों ने उन पर भयंकर हमले किये। नाग

शिव के परम भक्त थे, पीठ पर शिवलिंग वहन करते थे। इसी से वे 'भारशिव' (शिव का भार वहन करनेवाले) कहलाते भी थे। कुषाणों को बारंबार हराकर उन्होंने काशी विश्वनाथ के सामने बारंबार अश्वमेध के स्नान किये। प्रत्येक विजय वे अश्वमेध द्वारा करते थे, प्रत्येक अश्वमेध के बाद काशी में गंगास्नान करते थे। इसी प्रकार उन्होंने दस अश्वमेध किये और काशी के जिस घाट पर उन्होंने अवभृथ-स्नान किये उसका नाम ही दशाश्वमेध पड़ गया जो आज प्रायः दो सहस्र वर्षों से प्रचलित है।

भारशिव नागों ने कुषाणों के हाथ से तलवार छीन ली और मिर्ज़ापुर से मथुरा तक की ज़मीन पर अपना अधिकार कर लिया। देश में एक नई लहर एक नई शक्ति, उठ खड़ी हुई। इतिहासकार जिसे अन्धकार-युग कहते थे वास्तव में भारत तब एक अद्भुत निष्ठा की राजनीतिक लड़ाई लड़ रहा था। विदेशी शक्ति उत्तर में भारशिवों ने सर्वथा तोड़ दी। अब वे स्वयं उस दिशा के स्वामी थे यद्यपि इस अपने संहारक अभियान से स्वयं भी वे थक रहने से बचे न रह सके। उनकी थकान का लाभ एक सर्वथा नई उदीयमान शक्ति को हो रहा था जो गंगा की घाटी में अब शीघ्र ही दहाड़नेवाली थी। गंगा-जमुना के द्वाब में फ़रुख़ाबाद-कनौज की दिशा से वह मगध की ओर बढ़ी और शीघ्र उसका स्वामी बन बैठी। वह शक्ति गुप्तों की थी।

गुप्तों का शासन तीसरी सदी ईसवी के तीसरे चरण के अन्त या चौथे के आरंभ में शुरू हुआ। कुल का प्रतिष्ठाता श्रीगुप्त (या केवल गुप्त) था जिसका विरुद केवल 'महाराज' था। सदी के अन्त में उसके देहान्त बाद उसका पुत्र घटोत्कच राजा हुआ। ये दोनों नृपति नाम मात्र के थे। वस्तुतः शक्ति

इस कुल में चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राज्यारोहण के बाद आई। उसका विरुद भी 'महाराजाधिराज' हो गया और ३१९-२० ई० में उसने प्रसिद्ध गुप्त-संवत् भी चलाया। उसके उत्कर्ष का विशेष कारण प्रसिद्ध और शक्तिमान गणतंत्र लिच्छवियों के कुल में उसका विवाह हुआ। उसने लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया और उस घटना को इतना महत्वपूर्ण माना कि अपने सिक्कों पर भी 'लिच्छवय:' लिखवाया और अपने साथ कुमारदेवी की आकृति खुदवाकर साथ ही उसका नाम भी उत्कीर्ण कराया। अपने अभिलेखों में उनके पुत्र पराक्रमी समुद्रगुप्त ने भी उस महत्व को बनाये रखने के लिये अपने को 'लिच्छविदौहित्र:' कहा।

इस कुल का महान् विजेता समुद्रगुप्त हुआ। उसने अश्वमेध किया और अपनी दिग्विजय की प्रशस्ति उसी स्तंभ पर लिखवायी जिस पर अशोक के शान्ति-अभिलेख खुदे थे। शान्ति और युद्ध का इतना सजीव विरोधाभास अन्यत्र नहीं मिलेगा। उस स्तंभ-लेख से पता चलता है कि पहले वह आर्यावर्त के अपने पड़ोसी राजाओं की ओर बढ़ा और उनको उसने तत्काल उखाड़ फेंका। भारशिव नाग नौ राजाओं का संघ बनाकर उससे लड़ने आये थे। एक साथ उसने उन्हें नष्ट कर दिया। फिर वह दक्षिण की ओर मुड़ा। पूर्व-समुद्र (जो राह दिग्विजयी रघु ने भी कालिदास के रघुवंश में ली है) की राह दक्षिणापथ के बारह राजाओं को परास्त करता और कृपया उनकी भूमि उन्हें लौटाता विशाखापत्तन और उत्तर अर्काट के ज़िलों तक जा पहुँचा और संभवत: पच्छिम की राह लौटा। प्रत्यन्त के राजाओं ने भी उसकी प्रभुता स्वीकार की और उसे कर देना

शुरू किया। उधर गणतांत्रिक जातियों को भी आत्म-समर्पण करना पड़ा।

साम्राज्यों पर एकमात्र अंकुश इन जातियों का रहा है और साम्राज्यों ने सदा अपनी विभूति के लिये उन्हें कुचला है। सिकन्दर के पिता फ़िलिप ने जिस प्रकार ग्रीस के नगर-राज्यों का दम तोड़ा उसी प्रकार पहले चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य ने, फिर समुद्रगुप्त ने, भारत में इन स्वतंत्र गणतांत्रिक जातियों का नाश किया। जिन मालवों ने सिकन्दर की पग-पग पर राह रोकी थी वे उस विजेता की चोट से तनिक विचलित नहीं हुए पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने शीघ्र ही बाद उन्हें रावी के तट से उखाड़ फेंका। अपनी आज़ादी की रक्षा के लिये वे बीहड़ स्थान की खोज में मरु की राह दखिन चल पड़े। राजपुताने की राह जब वे पहली सदी ईसवी पूर्व अवन्ती की ओर बढ़े तभी उधर शकों की पहली धारा भी जा बही थी। मालवों ने उन्हें अवन्ती से उखाड़ फेंका। उसी विजय के स्मारक में संभवतः मालवों (के मुखिया विक्रमादित्य) ने अपना मालव (विक्रम) संवत् चलाया (५६-५७ ई० पू०) और वे अवन्ती में बस गये। तब से अवन्ती का 'मालवा' नया नामकरण हुआ। (और जब-जब भारतीय जेनरल ने विदेशियों से सफल-असफल लोहा लिया तब-तब उसने 'विक्रमादित्य' विरुद धारण किया, चन्द्रगुप्त द्वितीय से हेमू तक।) समुद्रगुप्त द्वारा जिन नौ दुर्द्धर्ष जातियों की शक्ति का नाश हुआ। उनके नाम थे—मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक और खरपरिक। मालवों के नष्ट होने का ही यह परिणाम हुआ कि शकों की शक्ति फिर मालवा में प्रचण्ड हुई, इतनी कि उनकी सम्मिलित वाहिनी ने समुद्रगुप्त के मरते

ही साम्राज्य को संकट में डाल दिया और उसके पुत्र रामगुप्त से इस शर्त पर सन्धि कर उसे छोड़ा कि वह अपनी सुन्दरी रानी ध्रुवदेवी शकराज को अर्पित कर दे (देवीचन्द्रगुप्तम्—विशाखदत्त)। जो भी हो अब गुप्त-साम्राज्य की सीमायें दूर-दूर तक पहुँच गई थीं।

समुद्रगुप्त ने तो चाहे जिस संहारक नीति के वशीभूत हो दिग्विजय की हो, एक बात उसके संबंध में प्रशंसनीय है कि वह विद्याव्यसनी और कलापारखी था। शास्त्र में उसकी अबाध गति थी, कविता वह अत्यन्त सुन्दर करता था; जिससे उसने 'कविराज' उपाधि अर्जित कर ली थी, और वीणावादन में भी वह असाधारण कुशल था। उसकी प्रशस्ति का दावा है कि अपनी विदग्ध मति से उसने देवराज इन्द्र के गुरु बृहस्पति और गायन-वादन में तुम्बरु और नारद को लजा दिया। उसका पुत्र चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) उसी का चुना हुआ था। परन्तु संयोगवश गद्दी उसके बड़े बेटे रामगुप्त को मिली। चन्द्रगुप्त उसका छोटा भाई था, ध्रुवदेवी का प्रिय, स्वयं असाधारण वीर। विशाखदत्त के नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' से पता चलता है कि शकराज ने उसे इतना पराभूत कर दिया कि जब सन्धि के नियमों के अनुसार उसने उससे उसकी पत्नी ध्रुवदेवी माँगी तो कायर और क्लीब रामगुप्त उसे भी देने को राज़ी हो गया। तब ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त से अपनी और गुप्त-कुल की लाज रखने की प्रार्थना की। चन्द्रगुप्त सुन्दर तरुण था। उसने ध्रुवदेवी की ओर से शकराज को संदेश भेजा कि वह आ रही है और स्वयं रानी के वेश में अचानक शक-शिविर में पहुँच उसने शकराज को मार डाला। फिर शीघ्र उसने गुप्त-साम्राज्य की गद्दी और साथ ही

ध्रुवदेवी (पता नहीं रामगुप्त को मारकर या जीते जी) पर अधिकार कर लिया। समकालीन स्मृति ने क्लीब की पत्नी और विधवा के विवाह को झट जायज़ क़रार दिया। यही चन्द्र-गुप्त (द्वितीय) साहित्य और लोककथाओं का प्रसिद्ध 'विक्रम' नामका नायक है, कालिदास का संरक्षक, प्रसिद्ध विक्रमादित्य और शकों का संहारक 'शकारि' विरुद से प्रख्यात। ३७५ और ३८० ई० के बीच कभी वह गद्दी पर बैठा।

उसने सुविस्तृत साम्राज्य पाया था पर उसके भोगने में एक बड़ा विघ्न था, मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के शकों का शक्तिमान शासन; जिसने उसके बड़े भाई के राज को ख़तरे में डाल दिया था। अब उसने उन्हें निर्मूल कर देना चाहा। मालवा के शकों और गुप्तों के बीच वाकाटकों का ब्राह्मण राज्य था। उसने वाकाटकराज को अपनी बेटी ब्याह उससे सन्धि कर उसके राज्य से राह ली और शकों को नष्ट कर उदयगिरि में अपनी विजय की प्रशस्ति के साथ वराह-विष्णु की पृथ्वी-उद्धार करती हुई मूर्ति खुदवायी। वह स्वयं उसके शकों से भारत भूमि के उद्धार की प्रतीक थी। अब उसने 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया। अब सारा मालवा (उज्जैनी, जिसकी राजधानी, संसार के व्यापार का केन्द्र थी), गुजरात और काठियावाड़ उसके हाथ में आ गये—समुद्र से समुद्र तक। उचित ही उसके बेटे कुमारगुप्त के अभिलेख ने लिखा—

> चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्।
> वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनी कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति॥

शकों के ही सिक्के फिर से अपने नाम से छपवाकर चन्द्रगुप्त ने पच्छिम के अपने उन प्रान्तों में चलाये। व्यापार का धन समुद्र-

पार से धारासार देश में बरसने लगा। उस पच्छिमी प्रदेश के शासन के लिये यह आवश्यक हो गया कि उज्जैनी को (जो पहले अशोक के समय भी, विशेषकर इसलिये कि उसी ओर से अधिकतर विदेशी आक्रमणों का संकट आता था, राजधानी रह चुकी थी) दूसरी राजधानी का वैभव दिया।

पर अभी शान्ति दूर थी। शान्ति की स्थापना के लिये अन्यत्र के शकों का नाश भी आवश्यक था (कुछ तो बंगाल में थे, कुछ सीमाप्रान्त में, जो समुद्रगुप्त से डरकर उसे कर देते रहे थे।) दिल्ली के पास मेहरौली गाँव में कुतुबमीनार की छाया में उसका एक लोहे का स्तंभ है जिसपर लिखा है कि शत्रु संघ बनाकर बंगाल में जमे। तब (चन्द्रगुप्त द्वितीय) ने उनको हरा, उनका संघ तोड़, पंजाब की सातों नदियों को लाँघ, वह्लीक (बैक्ट्रिया के हूण और सीमाप्रान्त के शक-मुरुण्ड) को हराया—तीर्त्वासप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका। तब शकों का अन्त हुआ और साहित्य और परम्परा ने इतिहास के चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को 'शकारि' कहकर अमर किया। कालिदास ने भी उसी राह अपने रघु को ले जाकर वह्लीक (बैक्ट्रिया) में वंक्षुनद के तट पर हूणों को पराजित कराया है। वस्तुतः कालिदास की राष्ट्रीयता ने पिता-पुत्र समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त दोनों को दक्षिण-उत्तर विजयों को एकत्रकर अपने रघु द्वारा उनकी सारी भूमि को जिताकर राजनीतिक भारत की एक आदर्श-सीमा नियत कर दी।

इसी चन्द्रगुप्त के शासन-काल (लगभग ३७५-४१४ ई०) में भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग अपनी चोटी पर पहुँचा। चीनी यात्री फ़ाह्यान ने तभी भारत का देशव्यापी भ्रमण किया।

जिस शान्ति, स्वतंत्रता, शासन की सादगी और हस्तक्षेपहीनता, धार्मिक-सहिष्णुता और सुख का उसने वर्णन किया है महाकवि कालिदास की रचनाओं का वही समृद्ध सुरक्षित सुव्यवस्थित काल था। महाकवि ने सही कहा है कि रघु (समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त का सम्मिलित-तेज पुंज) के शासन में विहार के लिये जाती राह में मदात्यय से निद्रावश हुई नर्तकियों का वस्त्र तक वायु भी छूने का साहस नहीं करता, फिर चोरी के लिये भला हाथ कौन बढ़ा सकता था ?

यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥

निःसन्देह उस स्थिति में चोरी कहाँ संभव थी ? भारत को आरपार लाँघकर भी फ़ाह्यान अछूता बचा रहा।

उस स्वर्ण-युग की एक झलक यहाँ दे देना अनुचित न होगा। सही वह ब्राह्मण और स्मार्तजीवन के पुनरुज्जीवन का समय था परन्तु साहित्य, कला आदि, देश के इतिहास में अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गये। ऐसी प्रगति साहित्य-कला में न कभी पहले हुई थी न पीछे हुई। भारत का गुप्तकाल साहित्य की दृष्टि से रोम का आगुस्तन-युग और इंग्लैंड का एलिज़ाबेथन-युग था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में अधिकतर साहित्य के ही महान् सर्जक थे। यह सही है कि परम्परा ने जिन रत्नों के नाम गिनाये हैं वे सभी समकालीन नहीं थे परन्तु निश्चय उससे (चन्द्रगुप्त) विक्रमादित्य की उस परम्परा की स्थापना निःसन्देह हो जाती है। उस रत्न-समूह का सबसे देदीप्यमान रत्न स्वयं कालिदास था। (हम उसके तिथि-निर्णय पर अन्यत्र सविस्तार विचार करेंगे)। हरिषेण और वत्सभट्टी, जो क्रमशः

समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त (चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का पुत्र) के प्रशस्तिकार कवि थे, इसी गुप्त-युग के रत्न थे। विशाखदत्त, जिसने मुद्राराक्षस और देवीचन्द्रगुप्तम् लिखे, इसी युग से प्रभावित कवि और नाट्यकार था। इसी युग के पिछले काल में गणित और ज्योतिष के महान् पण्डित आर्यभट्टी और वराहमिहिर हुए। कुछ ही दिनों बाद (जन्म ५९८ ई० में) विख्यात गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त हुआ। इसी काल कुछ पहले या कुछ बाद हुए धन्वन्तरि और दिङ्नाग, वसुबन्धु और असंग, ईश्वर कृष्ण और अमरसिंह। तभी पुराण भी आज के रूप में प्रस्तुत हुये, मनुस्मृति का अन्तिम संस्करण हुआ, याज्ञवल्क्य-स्मृति की रचना हुई। संस्कृत साहित्य का यह मूर्धाभिषिक्त काल था।

वैष्णवों और शैवों में सौहार्द था और बौद्धों-जैनों के प्रति भी असामान्य सहिष्णुता का बर्ताव सरकार और जनता दोनों करते थे। सबसे सुन्दर बौद्ध और जैन मूर्तियाँ तभी बनीं। कला के क्षेत्र में तो अपूर्व उन्नति हुई। पहाड़ों को काटकर बड़े-बड़े हाल बनाये गये और उनकी दीवारों पर नयनाभिराम चित्र लिखे गये। अजन्ता और बाघ के गुफा-गृहों के संसार-प्रसिद्ध चित्र तभी बने। यहाँ से बौद्ध भिक्षु चीन जाकर वहाँ अपने धर्म का उपदेश करने लगे थे। वहाँ कुछ ही काल बाद तनहूआंग की सैकड़ों गुफाओं में अजन्ता के ही अनुकरण में हज़ारों चित्र बन गये। धातुओं के ढालने का काम भी अद्भुत रीति से हो रहा था। चन्द्रगुप्त का मेहरौली वाला स्तंभ लोहे का है पर उसकी धातु ऐसी है कि आज डेढ़ हज़ार वर्ष आँधी-पानी में खड़े रहते हुए भी उसमें जंग नहीं लगी। ग्रीक-शक-कुषाणों की सम्मिलित

विरासत के धनी होने के कारण गुप्तों के सिक्के सुन्दरता में आदर्श बन गये। दीनार और सुवर्ण दो प्रकार के सोने के सिक्के चलते थे, दोनों ही देखने में अभिराम आकृतिवाले थे। उनके खरे सोने और तौल से उस काल की समृद्धि पर प्रकाश पड़ता है।

इसी गुप्तकाल के आकर से कालिदास का-सा अनुपम रत्न निकला।

दूसरा परिच्छेद

कालिदास के पूर्ववर्ती

कालिदास के ग्रन्थों से पता चलता है कि वे अनेक विद्याओं और शास्त्रों के पण्डित थे। इनमें से कुछ विद्यायें तो साधारणतः सभी सुसंस्कृत नागरिकों द्वारा पढ़ी जाती थीं, कुछ का अध्ययन कवि आदि विशेष प्रकार से करते थे। जिन विद्याओं का कालिदास ने उल्लेख किया है उनके संभवतः वे स्वयं जानकार थे। आन्वीक्षिकी (दर्शन आदि), त्रयी (तीनों वेद), वार्ता (कृषि, वाणिज्य, सार्वजनिक इमारतें, राजकार्य का एक भाग) और दण्डनीति (राजनीति) का 'विद्याओं' द्वारा महाकवि ने उल्लेख किया है।

धनुर्वेद, आयुर्वेद, व्याकरण, छन्द, शिक्षा, धर्मसूत्रों, शुल्व-सूत्रों, स्मृतियों, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, कामसूत्रों, गजसूत्रों, संगीत, नृत्य, चित्र-लेखन, नाटचशास्त्र, इतिहास-पुराण, रामायण, महाभारत आदि पर कवि का पूरा अधिकार था और उनका और उनके लाक्षणिक शब्दों का उसने बारबार और सविस्तर उल्लेख किया है। नाटचशास्त्र (भरत), अर्थशास्त्र (कौटिल्य) और कामशास्त्र (वात्स्यायन) का तो उसने अनेक स्थलों पर सविस्तर उल्लेख किया है।

स्वाभाविक है कि श्रृङ्गारप्रधान कवि को विशेषतः

वात्स्यायन के कामसूत्रों का अध्ययन करना आवश्यक था। उस ग्रन्थ में नागरक की तैयारी का जो चित्र दिया है उसमें प्रसाधन तो प्रधान है ही, उसके साथ चेट, विट, विदूषक आदि का रहना भी आवश्यक माना गया है। उसके प्रेम-प्रणय और उसकी प्रणयिनी-वारांगनाओं का होना भी आवश्यक बताया गया है। ऐसी स्थिति में काव्य की बहुमुखी परिस्थिति स्वाभाविक ही उत्पन्न हो जाती है और कवि की अनेकधा प्रतिभा का मुखरण प्रकृत हो जाता है।

कालिदास के पूर्ववर्ती कवि, नाटककार, काव्य आदि अनेक थे जिनसे उन्हें प्रेरणा और सामग्री मिली। इनमें अनेक का तो उन्होंने स्पष्टतः उल्लेख किया है, कुछ की ओर संकेत किया है, कुछ की कृतियों का प्रमाणतः उपयोग किया है।

वाल्मीकि और उनकी रामायण के प्रति तो उनका अत्यन्त अनुराग है। रघुवंश का अधिकांश, पुराणों के अतिरिक्त रामायण का ही निचोड़ है। वाल्मीकि कालिदास के आदर्श हैं और उनके प्रति उनका रुख़ अत्यन्त श्रद्धा और आदर का है। उनकी तुलना में वे अपने को वामन मानते हैं, पर प्रगट है कि काव्यकारिता में वे स्वयं वाल्मीकि से कितना आगे बढ़ गये हैं। जिस प्रबन्ध-पद्धति का वाल्मीकि ने प्रारंभ किया था, कालिदास ने उसकी परिणति की। महाभारत भी कालिदास को प्रायः आज के संस्करण के रूप में उपलब्ध था। गुप्त-अभिलेखों में उस ग्रन्थ का 'शत-साहस्री संहिता' कह कर उल्लेख उसके लाख श्लोकों वाली काया की ओर संकेत करता है। महाभारत की कथाओं का संकेत-निर्देश तो महाकवि के ग्रन्थों में अनेकानेक बार आया ही है, अभिज्ञान-शाकुन्तल और विक्रमोर्वशी के कथानक भी वहीं से लिए गए

हैं। स्पष्ट है कि इनके काव्यत्व का भी कुछ लाभ कवि को मिला होगा।

पुराणों की अक्षय, आकर्षक और अमित सम्पदा तो कवि के पास थी ही, अभिलेखों का भी उसे लाभ था। गुप्तकाल के अभिलेख काव्य की दृष्टि से भी असाधारण क्षमता की रचनायें हैं। शक-महाक्षत्रप रुद्रदामा का १५० ई० का गिरनार वाला लेख संस्कृत की पहली ललित गद्य-शैली प्रस्तुत करता है। है वह गद्य, पर उसे काव्य (गद्यं काव्यं) कहा गया है। परन्तु इस दृष्टि से हरिषेण द्वारा विरचित समुद्रगुप्त की प्रयाग-स्तंभ की प्रशस्ति विशेष उल्लेखनीय है। प्रशस्ति गद्य-पद्य दोनों में है पर उसे काव्य कहा गया है क्योंकि संस्कृत में ललित गद्य को भी काव्य कहने की परम्परा थी। इस प्रशस्ति का गद्य-भाग तो इतना लंबा होकर भी समस्तपदीय होने के कारण एक ही वाक्य का है और सुबन्धु और बाण के लिए 'माडल' प्रस्तुत करता है। परन्तु हरिषेण मधुर और लघुपदीय शैली में अपने छन्द लिखता है। उसकी वृत्ति वैदर्भी है, नितान्त ललित। एक उदाहरण इस प्रकार है—

आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितैः रोमभिः
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्यालुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति॥

संभव नहीं कि कालिदास समुद्रगुप्त के परराष्ट्र-सचिव (सन्धि-विग्रहिक) और सभाकवि हरिषेण की इस कृति को न जानते रहे हों।

इसी प्रकार के ललित काव्य से गुप्तों के अभिलेख मुखरित

हैं। कुमारगुप्त, और स्कन्दगुप्त और कुमारगुप्त द्वितीय के अभिलेखों में भी अद्भुत काव्य-सौन्दर्य है। मन्दसौर का सूर्य-मन्दिर वाला अभिलेख वत्सभट्टी का है जो स्वयं कालिदास से प्रभावित है, हरिषेण की भाँति राजकवि नहीं वरन् लेखन पर जीने वाला क़स्बे का कवि जो अपनी फ़ीस के बदले जुलाहों के लिए काव्य प्रस्तुत कर देता है। वह कालिदास का पूर्ववर्ती नहीं पर गुप्तकालीन काव्य-परम्परा का कवि है। वत्सभट्टी कालिदास का निकट का पूर्ववर्ती है, प्रायः समकालीन।

कालिदास का दूसरा, कुछ दूर का, पूर्ववर्ती कवि और नाटककार अश्वघोष था। वह जन्म से ब्राह्मण था, साकेत का रहने वाला, सुवर्णाक्षी का पुत्र। बौद्ध-दर्शन का वह असाधारण पण्डित था, कुषाण-नृपति कनिष्क का समकालीन। कहते हैं कि कनिष्क पाटलिपुत्र का धावा कर उसे वहाँ से बलपूर्वक हर ले गया था। उसने सूत्रालंकार, गण्डी-स्तोत्रगाथा, सौन्दरनन्द और बुद्धचरित लिखे। गण्डी स्तोत्रगाथा में अद्भुत गेयता है। वह संस्कृत काव्य-काल के प्राचीनतम गेय काव्यों में से है। सौन्दर-नन्द और बुद्धचरित प्रबन्ध-काव्य हैं। अश्वघोष ने कुछ नाटक भी लिखे थे जिनके टूटे अंश मध्य एशिया के तुफ़ान में मिले थे। सारिपुत्रप्रकरण के अंश उल्लेखनीय हैं। कालिदास ने अश्वघोष का उल्लेख तो नहीं किया है पर उसकी कृतियों से लाभ उठा कर उसने सुन्दरतर काव्य-कौशल प्राप्त किया है। बुद्धचरित के अनेक श्लोक स्थिति-भाव-भाषा के साथ कालिदास ने अपने रघुवंश के सातवें सर्ग में उद्धृत किए हैं और वे उन्हें इतने प्रिय लगे कि उनको उन्होंने अपने कुमारसम्भव के सातवें सर्ग में उसी

प्रसंग में फिर दुहराया। निःसन्देह महाकवि ने उनका काव्यत्व विशेष चमत्कृत कर दिया।

बौद्ध अवदान भी कालिदास से पहले के हैं। उनकी भाषा और शैली सरल और काव्यमयी है। संस्कृत साहित्य की प्रगति में एक मंज़िल वे भी हैं और आर्यशूर की जातकमाला भी। नहीं कहा जा सकता कि इनका कवि कालिदास पर प्रभाव पड़ा या नहीं, या किस अंश में पड़ा, परन्तु पूर्ववर्ती होने से इन्होंने, कुछ आश्चर्य नहीं, शैली माँजने में कुछ आसानी कर दी हो।

अपने जिन पूर्ववर्तियों का कालिदास ने नाम से उल्लेख किया है, भास, सौमिल्ल और कविपुत्र भी हैं। तीनों नाटककार थे। पिछले दो की कोई कृति उपलब्ध न होने के कारण वे तो नाममात्र हैं पर भास की रचनायें हाल में मिल गई हैं। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने भास के १३ नाटकों का एक संग्रह १९१२ ई० में छापा था। ये नाटक रामायण, महाभारत, पुराण और लोक-कथाओं के आधार पर रचे गए हैं। कुछ विद्वानों ने उनके भास के रचे होने में सन्देह किया है पर सन्देह अकारण न होता हुआ भी कृतियाँ हैं भास की ही। इनमें अधिक प्रसिद्ध स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगन्धरायण हैं।

जहाँ वाल्मीकि का नाम कालिदास ने इतनी श्रद्धा से लिया है और उसे कवियों के लिए मार्ग बनाने वाला 'पायोनियर' कहा है, वहाँ उसने भास (और सौमिल्ल और कविपुत्र) को 'प्रथित-यशस्' (प्रख्यात) होने के बावजूद साधारण माना और उसके समक्ष अपनी रचना को वज़नी माना है। उसकी रचनाओं के साथ अपने नाटक को तौलने की चुनौती तक दी है। मालविकाग्निमित्र नाटक की भूमिका में जब कालिदास द्वारा रचित मालवि-

काग्निमित्र को वसन्तोत्सव पर खेलने का प्रस्ताव करता है तब पारिपार्श्वक कहता है कि 'भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः' (विख्यात यश वाले भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि नाटककारों की कृतियों का निरादर कर वर्तमान कवि कालिदास का नाटक खेलना कहाँ तक उचित है ?) इस पर कालिदास का सूत्रधार के मुँह में उत्तर रखना न केवल भासादिकों के प्रति वरन् समस्त प्राचीनतावादियों के लिये वर्तमान के पक्ष में चुनौती है । सूत्रकार कहता है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।

"पुरानी होने ही से कोई कृति सुन्दर नहीं हो जाती और न नयी होने मात्र से कोई रचना असुन्दर और निन्द्य हो जाती है । पण्डित कृति की परीक्षा करके उनको सराहते हैं, मूढ़ दूसरों के कहने का विश्वास कर तदनुकूल अपना मत बनाते हैं ।" कितनी बड़ी चुनौती है यह, नवोदित प्रतिभा की, प्रख्यात प्रशस्त मेधा के प्रति ? और यह चुनौती कुछ रीती नहीं है क्योंकि संसार जानता है कि भास से कालिदास कितना अधिक महान्, कितना अधिक सफल नाट्यकार था । 'प्राश्निकों' (जिनका काम नाटक के पहली बार खेले जाने पर उसके गुण-दोषों का निर्णय करना था) को भी कालिदास की यह चुनौती थी । यह स्थिति भवभूति की परिस्थिति से कितनी भिन्न है ? भवभूति को उसके समकालीनों ने यथोचित आदर नहीं दिया । उस शालीन कवि-नाटककार ने

फिर खिन्न होकर, यद्यपि अपूर्व आत्म-विश्वास के साथ, अपने आलोचकों को धिक्कारा—"यह मेरा यत्न (कृतित्व) उनके लिये नहीं है (तान्प्रति नैष यत्नः) वरन् उस समानधर्मा (जन) के लिए है जो कहीं न कहीं जन्म लेगा (और इसे समझेगा) क्योंकि काल की कोई सीमा नहीं और पृथ्वी विपुल है। आत्म-विश्वास होते हुए भी इस कथन में कितनी मायूसी है। उधर कालिदास पुरावादियों को वर्तमान में ही अपनी प्रतिभा मानने को वाध्य करता है।

भास संभवतः तीसरी सदी ईसवी में हुआ, कालिदास से प्रायः सौ-दो सौ पहले। पर उसकी ख्याति पर्याप्त हो चुकी थी। यह उसके अनेक प्रकार के अनेक नाटकों से भी प्रमाणित है। कालिदास ने इस प्रकार अनेक दिशाओं से सामग्री लेकर अपनी काव्य-काया सिरजी पर उसने जिसे लिया, जिसे छुआ, उसे ही चमत्कृत कर दिया, नई कान्ति प्रदान की। वह उन सब से महान् था जिनको उसने आदर्श माना या जिनकी लीक पर वह चला। वस्तुतः लीक अपनी उसने अपने आप बनाई और आने वालों के लिए उसने राह प्रशस्त की, परन्तु उसकी राह, उसकी प्रतिभा का-सा प्रकाश लेकर कोई चल न सका। वह अपना-सा आप था।

तीसरा परिच्छेद

स्थान और काल

महान् साहित्यकार प्रकाश की भाँति स्वच्छन्द, वायु की भाँति स्थान-विशेष का नहीं होता, सर्वत्र का होता है, सब का। काल और देश उसकी सीमा नहीं बाँध सकते। इसी से कालिदास ने अपने ग्रन्थों में कहीं अपना नाम नहीं लिखा, अपने स्थान का नाम नहीं लिखा, अपने कार्य-काल का उल्लेख नहीं किया। काल निरवधि था, पृथ्वी विपुल थी।

पर इसी कारण साहित्य के इतिहासकारों के लिये कालिदास के समय आदि समस्या बन गए हैं। उसकी भारती इतनी स्पृहणीय थी कि अनेकों ने कालिदास का नाम धारण कर लिया जिसका परिणाम यह हुआ कि १००० ई० तक पहुँचते-पहुँचते साहित्य में हमें छः-छः कालिदास मिलने लगते हैं और प्रसिद्ध कालिदास को निश्चित करने का कार्य और कठिन हो जाता है।

महाकवि का स्थान और रचना-काल निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता परन्तु प्रमाणों से उनका अनुमान लगाया जा सकता है। नीचे के पृष्ठों में हम उन्हीं की ओर संकेत करने का प्रयत्न करेंगे। और यद्यपि कोई तिथि-स्थान निःसन्देह नहीं कहा जा सकता, निश्चय उससे कवि को समझने में आसानी होगी।

जो जितना ही लोकप्रिय और मेधावी होता है उसके साथ उतनी ही किम्वदन्तियाँ और जनश्रुतियाँ बंध जाती हैं। कालिदास

के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ और परम्परायें हैं। हम उन सब का उल्लेख तो यहाँ नहीं कर सकते पर कुछ की ओर संकेत कर देना अनुचित न होगा। कहते हैं कि कालिदास पहले बड़े मूर्ख थे; जिस डाल पर बैठे थे उसे काटने तक में उन्हें संकोच न हुआ। उनका विवाह विद्यावती नाम की एक विदुषी से हुआ और जब उसने अपने पति की चपाट मूर्खता देखी तब अपना माथा पीट लिया और कालिदास को घर से निकाल बाहर किया। कालिदास खिन्न होकर चले गये, फिर काली की बड़ी उपासना-तपस्या की (कालिदास नाम से इस किंवदन्ती में अनेक लोगों को आस्था हो गई है) जिससे देवी के वरदान से प्रतिभा चमक उठी। जब घर लौटे तब पत्नी ने पूछा—"अस्ति कश्चिद्वागर्थः" (वाग्विशेषः)—कुछ अक्ल हुई? (शब्द-अर्थ का ज्ञान हुआ?) और महाकवि ने तत्काल अपनी रचनायें प्रस्तुत कर दीं प्रत्येक रचना के आरंभ में प्रश्न के एक-एक शब्द को रखा। जैसे कुमारसंभव 'अस्ति' (अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा) शब्द से शुरू हुआ, मेघदूत 'कश्चित्' (कश्चित्कान्ता विरहगुरुणा) से और रघुवंश 'वागर्थ' (वागर्थाविव संपृक्तौ) पद से। पर इन किंवदन्तियों पर, कहना न होगा, विश्वास नहीं किया जा सकता। मूर्ख सहसा असाधारण प्रतिभावान कथाओं में ही हो जाया करते हैं, मांस-मज्जावाली प्रकृत देह में नहीं हुआ करते। कालिदास को जन्मजात मूर्ख कहना अनर्थ करना है।

फिर कहते हैं कि कालिदास समस्याओं की पूर्ति में बड़े चतुर थे और इस सम्बन्ध से उनका संपर्क राजा भोज तक से कर दिया गया है। अनेक कथायें तो यहाँ तक कहती हैं कि जब कालिदास

का पता नहीं होता था तो उनका संरक्षक राजा समस्यायें प्रसारित कर उनका पता लगा लिया करता था क्योंकि उनकी पूर्ति की कठिनता साधारण कवियों को उस दिशा में जब प्रयत्नहीन कर देती थी और जब कालिदास अपनी प्रतिभा से उनकी पूर्ति कर देते थे। तब, उसी साधन से, उनके अज्ञातवास का पता भी लग जाया करता था। इस स्थिति का अंश संभव होते भी कहाँ तक यह सही है नहीं कहा जा सकता। एक परम्परा यह भी है कि लंका के कुमारदास कालिदास के अभिन्नहृदय मित्र थे जिनके पास वे रहने लगे थे। एक वारांगना से उन्हें मोह था और उसने इन्हें विष देकर मार डाला। तब कुमारदास को इतना दुःख हुआ कि मित्र का विरह न सह सकने के कारण वह चिता बनवा कर उसमें जल मरा। यह दन्तकथा सुन्दर है पर इसकी सच्चाई सिद्ध करने का कोई प्रमाण नहीं है। कालिदास के सिंहल जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। सिंहल कविप्रिय वर्णनों (हिमालय, अवन्ती आदि) में भी विशेष प्रिय स्थान नहीं पाता। और यह मानने का कोई कारण नहीं जान पड़ता कि महाकवि का अन्त इतना शोचनीय, विष के प्रयोग से, हुआ। कवि के अध्ययन से तो यही लगता है कि दीर्घ काल तक जीवित रह कर वह शान्तिपूर्वक वृद्धावस्था में मरा। जितना उसने रचा है वह इतना काफ़ी है कि एक पूरा और दीर्घ जीवन-काल आसानी से ले सकता है। वह तरुणाई अथवा मध्य आयु में कवि का मरना असंभव कर देता है। और वारांगना आदि से संपर्क साधारणतः इतनी उम्र में नहीं हुआ करता। इससे इस परम्परा में भी कुछ जान नहीं जान पड़ती। हाँ, कवि किसी विक्रमादित्य की सभा का रत्न था यह विश्वास सही हो सकता है। पर विचारणीय यह है कि वह विक्र-

मादित्य कौन था, और उस पर हम नीचे यथास्थान विचार करेंगे।

कालिदास कहाँ जन्मे और कहाँ रहे, मरे आदि प्रश्न भी साधारण नहीं। उनका उत्तर देने के लिए काफ़ी सामग्री नहीं, केवल अनुमान किया जा सकता है। वैसे कालिदास की लोकप्रियता के कारण विभिन्न प्रान्त वालों ने उन्हें अपने अपने प्रान्त का मान लिया है। बंगाल, मध्यप्रदेश, मालवा, कश्मीर आदि अनेक स्थान महाकवि की जन्मभूमि बताये जाते हैं। इनमें केवल मालवा और कश्मीर ही विचार के योग्य जान पड़ते हैं। यह सही है कि मालवा और कश्मीर दोनों के लिये कवि के हृदय में स्थान और ममत्व है। हिमालय के लिये तो वह आत्मीयता पक्षपात सी बन गई है। विक्रमोर्वशी का चौथा और शाकुन्तल का सातवाँ अंक हिमालय में ही रखे गये हैं, रघुवंश के पहले, दूसरे और चौथे सर्गों के अंश भी उस महान् पर्वत से संबंधित हैं, और समूचा कुमारसम्भव और मेघदूत का पूरा उत्तर भाग हिमालय से ही संपर्क रखते हैं। अत्यन्त संभव है कि महाकवि कश्मीर की ही साहित्य-परम्परा में जन्मा हो। इस देश के किसी एक प्रान्त ने इतने साहित्यकार, विशेषकर काव्य और अलंकार के समीक्षक नहीं उत्पन्न किये जितने कश्मीर ने। मालवा भी कवि को प्रिय है और उसने उसकी ओर भी अपनी कृतियों में हमारा ध्यान विशेष रूप से खींचा है। मेघदूत में तो यद्यपि मेघ की राह सीधी उत्तर की ओर है और उज्जयिनी टेढ़े रास्ते पर है पर राह छोड़ टेढ़े जाने पर वह उसे मजबूर करता है। फिर मेघ को उज्जयिनी पहुँचा कर वह महाकाल के मन्दिर, उसकी नर्तकियों और नागरिकाओं के हाव-भाव, अंग-विलास आदि के वर्णन में विभोर

हो जाता है। निःसन्देह यह स्थिति मात्र स्थान के सौन्दर्य से उत्पन्न न हुई होगी। परम्परा कहती है कि कालिदास उज्जयिनी में विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे। कुछ आश्चर्य नहीं जो कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की उस दूसरी राजधानी उज्जयिनी में रहे हों। लगता है कि किसी कारण कवि को अपनी जन्मभूमि छोड़ देनी पड़ी थी जिससे विकल होकर मध्यभारत (रामटेक —रामगिरि) के प्रवास से यक्ष के बहाने वह अपने ही उद्‌गार अपनी जन्मभूमि और प्रेयसी की ओर भेजता है। कारणवश संभवतः वह स्वदेश न जा सका, उसे मध्यभारत के आसपास ही कहीं रह जाना पड़ा। और जो वह विक्रमादित्य की सभा का था तब तो उसका मालवा (उज्जयिनी) में दीर्घकाल तक (जीवन पर्यन्त) निवास वह आत्मीयता उत्पन्न कर सकता है जो उसकी कृतियों में मिलती है। फिर उसे स्वदेश लौटने की आवश्यकता भी न पड़ी होगी। तब हम प्रबल प्रमाण के अभाव में साधारणतः यह कह सकते हैं कि कालिदास जन्म से कश्मीरी थे पर रहे मालवा में थे। कम से कम उस प्रवास में उनका दीर्घ काल बीता था।

अब रही उनकी तिथि की बात। उसका निर्णय करना कुछ आसान नहीं। और उस संबन्ध में अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं जो कवि को ई० पू० दूसरी सदी से लेकर छठी सदी ईसवी तक के काल-प्रसार में रखती हैं। नीचे कुछ ऐसे प्रमाण दिये जाते हैं जिनसे कवि का पाँचवीं सदी ईसवी में होना उचित जान पड़ता है। इस सम्बन्ध में और युक्तियाँ भी दी जाती हैं पर चर्वित चर्वण होने के कारण हम यहाँ उनका उपयोग नहीं करते।

साधारणतः दुर्बलता कवि को पहली सदी ई० पू० में

५६-५७ ई० पू० का विक्रम-संवत् चलाने वाले विक्रमादित्य का समकालीन सिद्ध करने के पक्ष में रही है। पर इसे अस्वीकार करने के कई कारण हैं। कालिदास अपनी इतनी विस्तृत कृतियों में कहीं शकों का उल्लेख नहीं करते। यदि वे पहली सदी ई० पू० हुए होते तो निश्चय शकों के उस आक्रमण को जानते जिसका वर्णन गार्गी-संहिता के युगपुराण ने किया है और जिसने भयानक क्रूरता से पाटलिपुत्र के पुरुषों का सर्वथा संहार कर दिया था। वह आक्रमण शक अम्लाट द्वारा हुआ था जो संभवतः शक-राज अयस् (५८-११ ई० पू०) का जेनरल था। जिस शान्ति और समृद्धि का हमें कालिदास के ग्रन्थों से परिचय मिलता है उसका पहली सदी ईसवी पूर्व के अशान्त मार-काट के समय हो सकना संभव नहीं जान पड़ता। युगपुराण लिखता है कि राजा नष्ट हो गए थे, प्रान्त बिखर गए थे, वर्णाश्रम धर्म क्षत-विक्षत हो गया था। कालिदास ने अपनी रचनाओं में पुराणों का एक संसार खड़ा कर दिया है। पौराणिक जन-विश्वास, पुराणों के देवता, पूजा, सभी उस पौराणिक साहित्य से संबन्ध रखते हैं जिसका संग्रह-संकलन और संस्करण गुप्तकाल में हुआ। पहली सदी ई० पू० में, जब पुराण अभी अस्थिर रूप में थे, यह सामाजिक निरूपण संभव न था। देवताओं, उनकी मूर्तियों और मन्दिरों का जो अनन्त संकेत कालिदास के ग्रन्थों में है वह कुषाणकालीन कला-प्रसूति, गान्धार-शैली, और उस मूर्ति-सम्पदा के बाद ही संभव था जिसे महायान की भक्ति-सरणि ने अविकल बहा दिया था। और महाकाल-सम्प्रदाय का उदय पहली सदी ईसवी में हुआ। अश्वघोष के श्लोक लेकर कालिदास ने उनको सुन्दरतर किया है और अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। वात्स्यायन

के कामसूत्रों का भी महाकवि ने सविस्तर उपयोग किया है जिससे उसे उसके बाद का होना चाहिए, और वात्स्यायन तीसरी सदी ईसवी के हैं। इसी प्रकार कालिदास छठी सदी ईसवी के भी नहीं हो सकते क्योंकि ४७२ ई० में कुमारगुप्त द्वितीय के शासन-काल में अभिलेख (मन्दसोर का) लिखने वाले कवि वत्सभट्टी ने मेघदूत का पर्याप्त अनुकरण किया है।

नीचे कुछ ऐसे प्रमाण दिये जायेंगे जिनसे कालिदास का गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का समकालीन होना अधिक संभव सिद्ध होता है।

कालिदास के काव्यों की भाषा और गुप्त-अभिलेखों की भाषा में असाधारण समानता है। गुप्त सिक्कों के लेखों की भाषा भी असामान्य रूप से कवि की भाषा से मिलती है। उदाहरणार्थ सिक्कों की भाषा और भाव—समरशतविततविजयो जितरिपुर अजितो दिवं जयति, राजाधिराजः पृथिवीविजित्वा दिवं जयत्या हृतवाजिमेधः, क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः —कालिदास के 'पुरा सप्तद्वीपं जयति वसुधामप्रतिरथः' से कितना मिलते हैं। गुप्त-सम्राटों के सिक्कों पर बने मयूरपृष्ठ पर बैठे कार्त्तिकेय का वर्णन कालिदास ने अनेक बार किया है। महाकवि का पद 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन' उस स्थिति के कितना निकट है। 'कुमार' और 'स्कन्द' कवि के इष्ट हैं।

जिस शान्त और सुखी तथा समृद्ध वातावरण का महाकवि के ग्रन्थों में वर्णन हुआ है वह व्यापार आदि से संपन्न उदारचेता नृपतियों से सुशासित राष्ट्र में ही संभव था। वह वातावरण उस काल गुप्त नृपति ही प्रस्तुत कर सकते थे।

शासन की दण्डनीति की विनम्रता और धार्मिक सहिष्णुता

जिसका चीनी यात्री फ़ाह्यान ने वर्णन किया है कालिदास के ग्रन्थों की भी प्राणवायु है। कालिदास ने अपने पद 'न खरो न च भूयसा मृदुः' में जैसे उसे सराहा है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पौराणिक परम्परायें जिनसे कवि का काव्य भरा है गुप्त काल में ही संहिताबद्ध हुई। हिन्दू, बौद्ध, जैन मूर्तियों की गुप्त काल में असीम प्रचुरता थी। मूर्तियों का संसार ही कालिदास में उतर पड़ा है।

कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए। प्रथम शती ई० पू० में कोई विशिष्ट विक्रमादित्य नहीं मिलता, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य बहुत पीछे हैं इससे तीसरी सदी ईसवी के बाद और स्कन्दगुप्त के पहले चूँकि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रमादित्य है, महाकवि को ४०० ई० के लगभग उसी का समकालीन होना चाहिए।

'जामित्र' (दायामित्रों) लग्न का कालिदास ने प्रयोग किया है। इस शब्द का प्रवेश भी इस देश में अन्य ग्रीक ज्योतिष शब्दों के साथ ही पहली सदी ईसवी के लगभग हुआ। उसके प्रचलन में कुछ समय लगा होगा। कवि का उसे दो-तीन सदी बाद जब वह समझा जा सकता हो प्रयोग करना सार्थक होगा।

रघु हूणों को वक्षु नद की घाटी में हराता है। हूण वहाँ ४२५ ई० के लगभग बसे थे, ईरानी नृपति बहरामगौर से हारने के बाद, जब फ़ारस और उनकी बस्तियों के बीच की सीमा वक्षु नदी (आमू दरिया) मान ली गई थी। जैसा चन्द्रगुप्त के मेहरौली के लौहस्तंभ से प्रमाणित है चन्द्रगुप्त ने सचमुच हूणों को उनके देश में ही हराया था। संभवतः उसके कुछ ही वर्ष बाद, संभवतः ४३० ई० में; रघुवंश रचा गया होगा।

कालिदास ने भरत की सटी उंगलियों का (जालग्रंथिताङ्गुलिः करः) वर्णन किया है। मूर्तिकला में इस प्रकार गुँथी उँगलियों वाली मूर्तियाँ बहुत ही कम हैं और जो हैं भी वे केवल गुप्तकाल की हैं। लखनऊ संग्रहालय की मानकुअर बुद्ध-मूर्ति और वहीं प्रदर्शित इसी प्रकार की नौ और मूर्तियाँ जालग्रथित उँगलियों वाली हैं। कवि की रचना और ये मूर्तियाँ एक ही काल की हैं।

कालिदास ने गंगा-यमुना की चँवरधारिणी मूर्तियों का उल्लेख किया है। इस प्रकार की मूर्तियों का आरंभ भास्कर्य में कुषाण-काल के अन्त और गुप्त-काल के आरंभ में हुआ। समुद्रगुप्त के व्याघ्रलांछित सिक्कों पर गंगा की मूर्ति बनी हुई है। दोनों एक ही प्रतीकों का उपयोग करते हैं।

कुषाणों के पहले का मूर्ति-छत्र कुषाण-काल में प्रभामण्डल बन गया, सादा, निराकृतिक। गुप्त-काल के प्रभामण्डल पर कितनी ही आकृतियाँ उभर आईं, विशेषकर अन्धकार को भेदने वाले रश्मि-वाणों की। उसके लिए साहित्य या प्रतिभानिदानों में लाक्षणिक शब्द न था, कालिदास ने नया शब्द रचा— 'स्फुरत्प्रभामण्डल', जो प्रकाश-बाणों के स्फुरण को प्रगट करने लगा।

कुमारसम्भव में वर्णित शिव की समाधि कुषाण-काल की वीरासन मुद्रा में बैठी बुद्ध और बोधिसत्व मूर्तियों के अनुसार है। कवि के सामने ये कुषाणकालीन मूर्तियाँ 'माडल' के रूप में विद्यमान थीं।

कुमारगुप्त के शासन के अन्त और स्कन्दगुप्त के शासन के आरंभ का काल अत्यन्त अशान्त और रक्तरंजित था, जब पुष्यमित्रों और हूणों के हमले शुरू हो गए थे। ४५० ई०

पुष्यमित्रों के आक्रमण का साल है, कालिदास के जीवन की निचली सीमा ४४९ ई० में ही रखनी होगी। परन्तु यदि प्रच्छन्न रूप से कवि ने कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों की ओर संकेत किया है तब संभवतः उसने स्कन्दगुप्त का जन्म भी देखा। चूँकि कवि ने बहुत लिखा है, उसका जीवन दीर्घ रहा होगा। यदि हम उसे अस्सी वर्ष का मान कर उसकी मृत्यु ४४५ ई० के लगभग रखें तो उसका जन्म ३६५ ई० के लगभग होना चाहिए। इससे संभवतः समुद्रगुप्त के शासन-काल में जन्म लेकर उसने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त का शासन और स्कन्दगुप्त का जन्म भी देखा क्योंकि पुष्यमित्रों को हराने के समय कुमार की उम्र कम से कम बीस वर्ष की तो रही ही होगी। और यदि कवि ने पचीस वर्ष की आयु में अपना कवि-जीवन शुरू किया तो ऋतुसंहार की रचना ३९० ई० के आसपास हुई होगी और कालिदास का रचना-काल उस युग का समानवर्ती होगा जिसे गुप्त-युग कहते हैं।

चौथा परिच्छेद

काव्य-ग्रन्थ

कालिदास की लोकप्रियता के कारण अनेक ग्रन्थ जो उनके नहीं हैं, सदियों उन्हीं के लिखे माने जाते रहे हैं। अनेक बार लोगों ने अपनी कृतियाँ उनके नाम थोप दी हैं, अनेक बार अन्य कालिदासों की रचनायें नाम-साम्य के कारण अपने आप उनके नाम बँध गई हैं। पर वस्तुतः उस महाकवि की लिखी और जानी हुई कृतियाँ आठ ही हैं—ऋतुसंहार, मेघदूत, रघुवंश, कुमार-सम्भव, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी, अभिज्ञानशाकुन्तल और कौन्तलेश्वरदौत्य। इनमें पहली सात कृतियाँ ही जानी हुई हैं, आठवीं कौन्तलेश्वरदौत्य उपलब्ध नहीं है। इससे इस पुस्तक में हम उसका ज़िक्र नहीं करेंगे। इन रचनाओं में पहली चार काव्य हैं, शेष तीन नाटक। ऋतुसंहार और मेघदूत खण्डकाव्य हैं, लिरिक, और रघुवंश तथा कुमारसम्भव प्रबन्ध-काव्य या महाकाव्य।

१. ऋतुसंहार

ऋतुसंहार कालिदास की पहली कृति है। वह निःसन्देह नितान्त सरल और अकृत्रिम तथा साधारण काव्य है। उसमें कवि की प्रतिभा प्रगटतः खुली नहीं है। उसमें मेघदूत और कुमारसंभव का कवि अभी जन्मा नहीं है। इसी से अनेक लोगों ने उसके

कवि की कृति होने में भी सन्देह किया है, यद्यपि सन्देह का स्थान वहाँ है नहीं। ऋतुसंहार और अन्य रचनाओं में अन्तर उसी कारण है जिस कारण एक ही कवि की प्रारंभिक और पिछली रचनाओं में सदा हुआ करता है। यह शुरू की अविकसित नौसिखुआ कर्तृत्व और प्रौढ़ प्रतिभा या मँजी मेधा का अन्तर है जो सर्वथा स्वाभाविक है। पर इसी कारण वह रचना त्याज्य नहीं होनी चाहिए। वैसे भी उसमें ऐसे प्रसंग, स्थल और पद हैं जो कवि की प्रौढ़तम कृतियों में भी प्रायः उसी रूप में प्रयुक्त हुए हैं। ऋतुसंहार निःसन्देह कालिदास की ही प्रारंभिक कृति है।

और चाहे उसमें कवि के और काव्यों की प्रतिभा न हो निश्चय वह सर्वथा नगण्य रचना भी नहीं है। चराचरव्यापी कविहृदय उसमें भी है। कालिदास का मानस प्रकृति के साहचर्य से जो बँधा हुआ है उसी साहचर्य का साक्षात्कार यहाँ भी है। कालिदास की सारी रचनाओं में प्रकृति नटी की तरह थिरकती है और अवसर पाते ही, अवसर निकाल कर, कवि उसे निहारने लगता है। पर उन सारी अनुपम कृतियों में फिर भी प्रकृति का साहचर्य केवल आंशिक है। पर इस ऋतुसंहार में कवि ने अन्य विषय लाकर विषय का व्यभिचार नहीं किया है। इस काव्य में शुद्ध प्रकृति का वर्णन है, भारत की, विशेषतः मध्यभारत की अलभ्य प्रकृति का, उसकी छः ऋतुओं का।

धारावाहिक रूप से निदाघ (गर्मी), वर्षा, शरत् (पतझड़), हेमन्त (जाड़ों के पहले दो मास), शिशिर (जाड़ों के पिछले दो मास), और वसन्त का कवि धारावाहिक रूप से वर्णन करता चला गया है। और उन ऋतुओं और प्रकृति के प्रति कवि की तन्मयता इस क़दर है कि वह उसके किसी चेष्टा को नहीं छोड़ता,

गुण-दोष दोनों बखानता जाता है। उसके प्रति उसकी आत्मीयता इतनी है कि वस्तुतः उसमें उसे दोष दिखता ही नहीं। उसके प्रत्येक बदलते रूप में उसे एक नया सौन्दर्य नई ताज़गी दिखाई पड़ती है जो सामयिक है और जो कवि और रसिकों में एक नये योग का नशा जगा देती है। प्रकृति का प्रत्येक रूप, उसकी प्रत्येक भावभंगी कवि को काम्य है।

पहले निदाघ जेठ और असाढ़ की गर्मी का वर्णन है। सूर्य तब तपने लगता है पर चन्द्रमा कमनीय हो जाता है, दिनान्त रम्य हो उठता है, शामें रेशमी हो आती हैं। लोग जलयंत्र से शीतल घरों का आश्रय लेते हैं, ठंडे रत्नों का,सरस चन्दन का। रात में छतें सुखदायिनी हो आती हैं, आधीरात का तन्त्रीनाद कामियों को विकल कर देता है। पसीने की अधिकता से भारी वसन फेंक लोग रेशमी वस्त्र धारण करते हैं। उठते बवंडर के बीच तपते सूरज के नीचे रेत जल रही है, उसमें झुलसता हुआ सर्प प्यास और गर्मी से बारबार उच्छ्वास छोड़ता हुआ वैर भाव भूल मोर के मंडल तले बैठ जाता है, पराक्रमी सिंह प्यास के मारे मुँह फाड़े हुए है, उसकी जिह्वा और सटा चंचल हो रही हैं पर इस क़दर गर्मी से बेहाल है वह कि पास के गज को भी मारने की इच्छा नहीं करता। सभी गर्मी के मारे परस्पर बैर भूल गये हैं। कहीं कहीं तो भाषा अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है—

सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां
सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमाः।
विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं
निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम्॥

धवल भवनों की छत पर सोई सुन्दरियों के मुख सारी रात

चन्द्रमा अपलक निहारता है फिर भी चिर उत्सुक दशा में ही रात का अन्त होने पर मानो लज्जा से पीला पड़ जाता है।

सावन-भादों वर्षा के महीने हैं—

ससीकराम्भोधरमत्तकुञ्जर-
स्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः।
समागतो राजवदुद्धतद्युति-
र्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये ॥

आया, प्रिये, आया घनागम (वर्षाकाल), कामिजनो का प्रिय, राजा की भाँति गरजते सीकरभरे मेघरूप गज पर चढ़ा, विद्युत् की पताका फहराता, वाद्य बजाता, उत्कटकान्ति यह वर्षाकाल। मैदान कोमल अंकुरों से भर गये, वैदूर्य की आभा से मंडित हो गये, भूमि इन्द्रगोपों से स्थान-स्थान पर ढक गई है, विन्ध्य की उपत्यका गहरी हरियाली से मन को मोहने लगी है। पर्वत निर्झरों से भर गये हैं, वर्षा की अगणित धाराओं से भी नदियाँ उमड़ चली हैं, हंस कमलनाल का पाथेय ले मानसरोवर की ओर उड़ चले हैं। केतकी और कन्दली, बकुल और मालती, यूथिका और कदम्ब, सर्ज और अर्जुन इस ऋतु के सहचर हैं।

आश्विन और कार्तिक शरत् के स्वच्छ मास हैं। शरत् के आते ही कुमुद के संसर्ग से शीतल मन्द वायु बहने लगी है, मेघों के अदृश्य हो जाने से दिशायें मनोहर लगने लगी हैं, जल की मलिनता नष्ट हो गई है, धरा का पंक सूख गया है, आकाश चन्द्रमा की स्वच्छ किरणों और निर्मल तारों से सज गया है—

शरदि कुमुदसंगाद्वायवो वान्ति शीता
विगतजलदवृन्दा दिग्विभागा मनोज्ञाः।
विगतकलुषमम्भः श्यानपंका धरित्री
विमलकिरणचन्द्रं व्योम तारा विचित्रम् ॥

आकाश दिन में कज्जलसमूह सा लगता है। जहाँ तहाँ दीख पड़ने वाले मेघ स्वच्छ रजत की धवलता धारण कर लेते हैं। चाँदनी नित्य लंबी होती जाती है, नित्य स्वच्छतरा, सप्तच्छद कुसुमों से वन ढके हैं, मालती पुष्पों से उद्यान, कास कुसुमों से भूमि ढकी है, पकी शालि से खेत ढके हैं। झील हंसों से शब्दायमान हैं, उनका जल श्वेत और नील कमलों से ढका है। बन्धूक और शेफालिका, श्यामा और मालती फूलों से लदी हैं।

हेमन्त ऋतु अगहन और पूस के महीनों में आती है। मौसिम बदल जाता है। तुषारपात होता है, कमल जल जाते हैं, लोध और कदम्ब फूलते हैं, प्रियंगु पुलक उठती है। विलासिनियों की बाहुओं में अब वलय और अंगद नहीं सोहते (उतार लेती हैं)। न तो उनके नितंबबिंबों पर महीन रेशम है न उनके भरे कुचों पर झीने कंचुक हैं। तुषार-शीत से पकी मरुतों से सदा कम्पायमाना प्रियंगुलता प्रिय से विरहित विलासिनी का पीलापन धारण कर रही है—

पाकं व्रजन्ती हिमजातशीतै-
राधूयमाना सततं मरुद्भिः।
प्रिये प्रियंगुः प्रियविप्रयुक्ता
विपाण्डुतां याति विलासिनीव॥

माघ, फाल्गुन के महीनों वाले शिशिर में धान पक जाता 'ईख हैलहलहाती है, क्रौंच रवते हैं। लोग खिड़कियाँ बन्द कर भवनों के अन्तरंग का सेवन करते हैं, भारी वस्त्र धारण करते हैं, सूर्य की किरणें सुखद होती हैं, आग तापना प्रिय लगता है। पान खाकर, कस्तूरी आदि का लेप किये, लंबे गजरे पहने, मधुर आसव से खिले मुख-कमल वाली नारियाँ कालागुरु के धुएँ से

भले प्रकार सुवासित शयनागार में बड़ी उत्सुकता से प्रवेश करती हैं—

गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः
सुखासवामोदितवक्त्रपंकजाः।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं
विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः॥

वसन्त (चैत, बैसाख) कोमल आम्रमञ्जरी और कूजित भ्रमरावलि लिये आता है। सर्वत्र सौन्दर्य फूट पड़ता है। तरु पुष्पों से लद जाते हैं, जल कमलों से ढक जाते हैं, परागबोझिल वायु बहती है। साँझें रुचिर होती हैं। दिवस रम्या, नीहारपात रुक जाता है। आम के रसासव से प्रमत्त पुंस्कोकिल रागहृष्ट (अति प्रसन्न, प्रणय के बाहुल्य से)हो प्रिया को चूमता है। इसी प्रकार कमल में बन्द कूजता हुआ भ्रमर भी अपनी प्रिया के प्रति उसका अभिमत आचरण करता है--

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन
मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः।
कूजद्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः
प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु॥

जड़ से शिखर तक प्रवाल रंग के रक्तिम पुष्पनिचय से लदे अशोक तरु निहारती हुई नवयौवनाओं के हृदय को सशोक कर देते हैं—

आमूलतो विद्रुमरागताम्रं
सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः।
कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं
निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम्॥

ऋतुओं का यह वर्णन कितना सुन्दर और यथार्थ है ! सरल छन्दों में कालिदास के निजी पद गुँथे हैं। अनेक तो वैदर्भी शैली के अनुपम माधुर्य से मुखरित हैं। जिस-जिस ऋतु में जो-जो तरु फूलते हैं, रसिक जन और उनकी प्रेयसियाँ जो-जो करती हैं सब आकर्षक भाषा में तरुण कवि ने व्यक्त कर दिया है। जैसे-जैसे ऋतु की जलवायु, उसके शीतातप बदलते हैं रसिकों के वस्त्राभूषण, उनकी भाव-चेष्टायें भी वैसे ही वैसे बदलती जाती हैं।

ग्रीष्म के दिन तपाते हैं पर रातें चाँदनी से चमकती सुखद शीतल होती हैं। निशीथ के नृत्य-संगीत आसव के संयोग से विशेष उद्दीपक हो उठते हैं। चाँद प्रणय की ईर्ष्या से संतप्त हो अवसाद से पांडुर हो लज्जा से मुँह छिपा लेता है। बरसात में जब बादल पर्वत-शिखरों को झुककर चूमने लगते हैं तब उन्हें देखते ही हृदय में प्रणय जग उठता है। पतझड़ नववधू बनकर आता है, ईखों का वसन पहने, पकते शालि की मेखला धारण किये, प्रफुल्ल मुख-कमल खोले। हेमन्त में प्रेमियों के आलिंगन और भी गाढ़, और भी कमनीय हो उठते हैं। शिशिर में सूरज की कमज़ोर किरणें सुस्वादु हो आती हैं, अग्नि का सेवन विशेष अभिप्रेत। परन्तु वसन्त चराचर में नवजीवन का संचार करता है, नव-प्रणय प्रौढ़ता प्राप्त करता है। निदाघ से शुरू कर कवि ने इस प्रकार ऋतुओं का वर्णन वसन्त में समाप्त किया।

कवि का जीवन, उसका उल्लसित अभिप्रेत इसमें उतर आया है। तारुण्य नैतिक संयत प्रणय का बन्धन नहीं मानता। ऋतुओं के परिवर्तन से उसके विलास की विधियाँ बदल जाती हैं, कम नहीं होतीं। इस प्रकार यद्यपि महाकवि ने अपने अगले जीवन में सुन्दरतर काव्य लिखे, उसकी काव्यशक्ति मँजती गई, प्रतिभा

जगती गई, पर उससे इस ऋतुसंहार की ताज़गी पर बल नहीं पड़ा ।

२. मेघदूत

मेघदूत तक पहुँचकर समीक्षक उसकी काव्य-प्रखरता और प्रौढ़ता से इतना प्रभावित हो जाता है कि समझ नहीं पाता कि शेष रचनाओं में कौन पहले की कौन बाद की है । सभी एक से एक सुन्दर हैं, एक से एक दिव्य । यदि मेघदूत रघुवंश से पहले का लगता है तो इसलिये नहीं कि वह उससे किसी प्रकार अप्रौढ़ कृति है बल्कि इसलिये कि उसमें तारुण्य का उद्दाम विलास अवरुद्ध हो गया है और किसी प्रकार उसका प्रवाह अपने अवरोध को तोड़ बह जाना चाहता है । प्रणय की वेला कृत्रिम साधनों से रोक दी गई है पर कारणवश जो प्रणय शरीरतः इष्ट तक नहीं पहुँच पाता वह मानस-रूप से वहाँ पहुँचना चाहता है और अपने उस प्रयास में अभिराम संसार का अनजाना 'लिरिक' रच जाता है ।

मेघदूत का नायक तरुण यक्ष यक्षराज कुबेर का अनुचर है । हाल ही उसका विवाह हुआ है और विलास की असंयत प्रचुरता के कारण एक दिन वह स्वामी की सेवा में प्रमाद कर बैठता है । स्वामी उसे अलका से वर्ष भर के लिये बहिष्कृत कर देता है । यक्ष को अपनी नगरी छोड़, अपनी प्रिया छोड़, दूर रामगिरि (नागपुर के समीप रामटेक) पर प्रवास करना पड़ता है । अभिशप्त यक्ष कुछ मास तो किसी प्रकार काट लेता है पर जब पावस के बादल आकाश में घुमड़ने लगते हैं, जब उनकी छाया उसका स्पर्श करती है, शिला-शिखरों को चूमने लगती है तब

उससे नहीं रहा जाता। गिरि-शिखर से मेघ का टकराना उसे पुंगव की वप्रक्रीड़ा की याद दिलाता है और उसका घाव ताज़ा हो आता है। पत्नी की सुधि उसे विकल कर देती है, विशेषकर इस कारण कि वर्षागम में दूर के सभी प्रवासी प्रियगण अपनी उत्कंठित प्रणयिनियों के निकट लौटते हैं और उसकी प्रिया भी बादलों को देख उसके लौटने की आशा करेगी पर कुबेर का शाप उसे लौटने देगा नहीं। फिर कैसे वह पत्नी तक संदेश भेजे कि वह उसे भूला नहीं, कि प्रवास में वह एकमात्र उसका स्मरण करता है और कि अवधि पूरी होते ही वह लौटेगा, लौटकर उसे भेंटेगा। एक ही उपाय है उस संदेश-प्रेषण का—कि मेघ को, जिसकी गति कहीं नहीं रुकती, वह अपना दूत बनाये। वही वह करता है। घुमड़ते मेघ के सामने मित्र के स्वागत में वह कुटज के टटके फूल लेकर खड़ा होता है और उससे अपना संदेश देता है। अलका की राह बताता है, घर और पत्नी की पहचान, फिर प्रणय-निवेदन करता है, अपनी करुण स्थिति और शाप के पर्यवसान पर घर लौटने की आशा प्रगट करता है। मधुर, करुण, सुकुमार भाव अनुकूल भाषा पर मुखरित होते हैं और मन्दाक्रान्ता के एकमात्र छन्द से कवि यक्ष की विकल स्थिति काव्यबद्ध कर देता है।

मेघ को मानसरोवर के तीर कैलास पर बसी अलका जाना है। राह माल के खेतों से होकर गई है, वर्षा की पहली फुहार से जहाँ भूमि नये सीकर-स्पर्श से अपने सौरभ की गाँठ खोल देती है, चराचर महमह कर उठता है। फिर आम्रकूट, फिर दशार्णों की ओर जहाँ विदिशा की समृद्ध नगरी है। बेतवा के कूलों को लाँघ निर्विन्ध्या और काली सिन्ध के पार उसे जाना है,

पहले उज्जयिनी की ओर। जाना है अलका, राह सीधा उतर गई है, पर उज्जयिनी यक्ष के मानस को छू लेती है, उसके सौन्दर्य से, महाकाल की नर्तकियों के नर्तन से, उज्जयिनी की विलासिनियों के कटाक्षों से मेघ को वह वंचित नहीं करना चाहता इससे उसे वह उस टेढ़ी राह मोड़ देता है। क्षिप्रा की सीकरसिक्त वायु का स्पर्श करता मेघ अब चंबल की राह दशपुर होता पुनीत ब्रह्मावर्त की सीमा में प्रवेश करेगा।

वहाँ सरस्वती के उस पावन प्रदेश में वह कुरुक्षेत्र है जहाँ अर्जुन का पराक्रम कभी जागा था, जहाँ उसके गांडीव की टंकार से दिशायें भरी हैं; जहाँ सरस्वती के तट पर, बान्धव प्रेम के कारण महाभारत के युद्ध से विरत हो, बलराम ने अपनी प्रिय सहचरी मदिरा त्याग दी थी। वहाँ से मेघ को कनखल की ओर जाना है जहाँ गंगा हिमालय से समतल भूमि पर उतरती है और तब परशुराम के शौर्य के प्रतीक, बाण की चोट से बनाये, क्रौंचरंध्र से निकल कैलास जाना है। आगे मानस का अभिराम सर है जिसकी सीकरसिक्त शीतल वायु क्लान्त मेघ का पथ-श्रम दूर कर देगी। तब वह शिव के राशीभूत अट्टहास-रूप धवल कैलास पर चढ़ेगा जिसकी स्फटिकवत् निर्मल काया सिद्ध ललनाओं के लिये दर्पण का कार्य करती है। वहीं यक्षों की पुरी है, अलका, सौन्दर्य की धनी, विलास की नगरी, यक्ष की पत्नी-प्रेयसी यक्षिणी का आकर्षक आवास।

वह आवास उस कमनीय नगरी में मेघ कैसे पहचानेगा? दूर से शंख और पद्म से चित्रित तोरण के भीतर उसका धवल भवन दिखेगा। वह भवन के उद्यान में प्रवाल का वृक्ष है, उसकी प्रणयिनी का विशेष प्रिय, और वहीं वह पन्ने का सोपान-मार्ग

है उस वापी तक जिसमें सोने के कँवल फूलते हैं, हंसों के जोड़े विहरते हैं, अपने विलास में मानस तक को भुला देते हैं। वहीं, कहता है यक्ष, मेरी प्रिया है, वियोग से अभितप्त, विषाद से कृशित, मलिनवसना, शाप की अवधि के लंबे दिनों को अनेकानेक उपायों से जैसे-तैसे काटती। हल्के जगाना उसे, भाव-तन्तु उसके नितान्त सुकुमार हैं, निमिषमात्र की निद्रा में स्वप्न में आये मुझे भेंट रही होगी, चेतना। और यह मेरे सुकुमार प्रणय का अभिमत विकल संदेश फिर उसे देना। कहना, शाप की अवधि समाप्त होते ही उसका प्रिय उसे भेंटेगा।

मानव-प्रणय का प्रतीक, कवि के सुकुमार भाव-तंतुओं से बना मेघदूत कल्पना, ध्वनि, विरह-वैकल्य में अपना सानी नहीं रखता। कालिदास की अपनी आत्मा यक्ष की काया में पैठी है वरना यदि उसका अपना विलास परिणति से पूर्व ही खण्डित न हो गया होता तो कल्पना मात्र से वह या कोई अपनी यह प्रणय-वेदना इस प्रकार निवेदित न कर पाता। कवि का वह अपना प्रवास था, कश्मीर की ऊँचाइयों से दूर, और पावस के आर्द्र पवन से उसका सिहरा अन्तर विकल हो उठा, उसका मथा अन्तर रोम-रोम से प्रणयिनी को पुकार उठा——

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा॥

जानता हूं, तुम जगद्विदित पुष्करावर्तकों (पुष्कर और आवर्तक) के कुल में जन्मे हो, कि तुम इन्द्र के यथेच्छित रूपधारी प्रधान अनुचर हो, तुम्हें जानता हूँ। और तभी दैव का मारा बन्धुओं से

बिछुड़ा आज मैं याचक बन कर तुम्हारे पास आया हूँ। गुणवानों से की हुई याचना व्यर्थ भी हो जाय तो भली, पर सिद्ध हो जाने-वाली कामना भी अधम के प्रति उचित नहीं। यह जान कर ही तुम उदार के पास आया हूँ।

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धर्जनपदवधूलोचनः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्‌व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥

गाँव की ललनायें, सीधी, कटाक्षों की कला से अनभिज्ञ, कृषिफल तुम्हारे अधीन जान तुम्हें स्नेहार्द्र लोचनों से निहा-रेंगी, पी लेंगी। हाल के जुते सुरभित माल देश के खेतों को लाँघ, तनिक पीछे पच्छिम हट फिर तीव्र गति से उत्तर की ओर चल देना

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्संगप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरित चकितैस्तत्र पौरांगनानां
लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥

तुम उत्तर दिशा की ओर जा रहे हो, उज्जयिनी का मार्ग उधर जाते टेढ़ा पड़ेगा। फिर भी उस नगरी के भवनों की छतों से परिचय करने से न चूकना। यदि विद्युल्लता के स्फुरण से चकित चंचल कटाक्षों से वहाँ नागरिकाओं के लोचनों को न भेंटा (आँखें न मिलाईं), उनमें रमे नहीं तो बस रह गये, ठग गये।

अलका पहुँचकर—

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणातोरणेन।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दार वृक्षः॥

वहीं कुबेर के भवन के निकट ही तनिक उत्तर की ओर अपना घर है। सुन्दर इन्द्रधनुष के से तोरण से दूर से ही दिखाई पड़ जायेगा। उसके बग़ल में मेरी कान्ता द्वारा पुत्रवत् पालकर बढ़ाया हुआ हाथ से छू लेने योग्य पुष्प-गुच्छों के भार से झुका बाल मन्दार का तरु है।

कैसे पहचानोगे मेरी प्रिया को ?

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्ठिराद्येव धातुः॥

छरहरी-पतली, श्यामा, सुन्दर (कोटिमन्त) दाँतों की पाँत से शोभित, पके कदम्ब के फल-से होठोंवाली, कृशोदरी, चकित मृगी की-सी दृष्टिवाली, गहरी नाभिवाली, नितम्बभार के कारण अलसगमना, स्तनों के बोझ से तनिक झुकी––बस इतना जान लो कि विधाता की नारी-रूप में जो आदि सृष्टि हुई वही––

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेसु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥

मेरे प्रवास के कारण (दूर होने से) सहचर से विरहिता चकवी की भाँति उस एकान्तसेविनी, थोड़ा बोलनेवाली (मेरी प्रिया को) मेरे दूसरे प्राण (जीवन) रूप उसे तुम (सहज ही) पहचान लोगे। अथवा, मेरी समझ में दूसरे रूप में, विरह के न कट सकने वाले बचे हुए दीर्घ दिनों में अत्यन्त उत्कंठिता शिशिर-मथिता पद्मिनी की भाँति हो गई उस बाला को पहचानोगे।

अनेक प्रकार से बचे दिन काटने का वह प्रयत्न करती होगी। देहली पर चढ़ाये बलि-पुष्पों को गिनती होगी, कल्पना द्वारा मेरी दुबल देह का ध्यान कर मेरा चित्र बनाती होगी या पिंजर की सारिका से मधुर वाणी में पूछती होगी—रसिके, तू भी तो उसकी प्रिया थी, स्वामी को कभी याद करती है ? अथवा—

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥

हे सौम्य, वह मलिन वसनवाली जाँघों पर (गोद में) वीणा धरे मेरे नामवाले पदों (कुलगीतों) को गाने की इच्छा करती हुई, आँसुओं से भींगी वीणा को जैसे तैसे पोंछकर (जब वह गाने को तत्पर होती होगी तभी) बारबार अपनी अभ्यास की हुई 'मूर्च्छना' तक को भूल जाती होगी (ऐसी उसको पहचानना)।

यक्ष फिर अपना विकल सन्देश कहता है। उसकी द्रवित वाणी विरह में काटी दुःख की कहानी कह चलती है। उसी का एक स्थल यह है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥

(प्रिये,) शिला के ऊपर गेरु से तुम्हारा प्रणयकुपित (मानिनी) चित्र बनाता हूँ पर जब तक (मान भंजन के लिये) तुम्हारे चरणों में पड़ा अपना रूप खींचना चाहता हूँ तब तक अविरल अश्रु-प्रवाह से मेरी दृष्टि बन्द हो जाती है। क्रूर दैव चित्र में भी हम दोनों का संयोग नहीं सह पाता !

मेघदूत की कथा संदेश दे चुकने पर, विशेषकर सान्त्वना-सहित आश्वासन के बाद, समाप्त हो जानी चाहिये थी, पर कालिदास की सुरुचि इतने ही से अपना कर्तव्य पर्याप्त न मानेगी। आरंभ में ही जिस शिष्टता से उसके यक्ष ने स्वागत-वचनों से मेघ को भेंटा था, उसी शिष्टता से वह यक्ष इष्ट सम्पन्न हो जाने पर (या उसकी संभावना पर) मेघ से विदा लेगा। पर विदा लेने के पहले अपनी बात समाप्त कर वह जैसे ठमक कर उसके कार्यभार का अंगीकरण सुनना चाहता है। पर जब मेघ स्वाभाविक ही नहीं बोलता तो यक्ष कहता है—

कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव॥

"सौम्य, इसका उत्तर कि मेरा यह बन्धुकृत्य करना तुमने निश्चित किया या नहीं (हाँ, या ना में नहीं लूँगा बल्कि वह) मैं तुम्हारी धीरता (चुप्पी) से ही निश्चय समझ लेता हूँ (क्योंकि) तुम तो चातकों की याचना पर निःशब्द ही उन्हें (स्वाति का) जल दे दिया करते हो। निःसन्देह याचकों के मनोरथ को पूरा कर देने की कृपा ही सज्जनों का उत्तर हुआ करती है।" कितनी चतुर उक्ति है और काव्य के कथानक को तर्कतः समाप्त करने का कैसा सुरुचिपूर्ण ढंग है। किसी ने सच कहा है—

गर्जति शरदि न वर्षति वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः।
नीचो वदति न कुरुते न वदति सुजनः करोत्येव॥

मेघ शरद् ऋतु में गरजता है पर बरसता नहीं, पर वर्षा-

काल में बिना गरजे भी बरसता है। नीच केवल कहता है करता नहीं, सुजन केवल करता है, कहता नहीं।

वस्तुतः कालिदास अपनी ही उक्ति की पुष्टि कर रहे हैं। आरंभ में ही कहा था, जैसा हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं, कि तुम भुवन-विदित पुष्कर और आवर्तक मेघों के कुल में उत्पन्न हुए हो, जानता हूँ, इन्द्र के कामरूप प्रधान पुरुष हो। इसी से बन्धुओं से विधिवशात् दूर हो जाने के कारण तुम्हारे निकट आया हूँ। क्योंकि महान् से ही माँगना चाहिये चाहे माँगा हुआ न मिले, पर नीच से हरगिज़ नहीं चाहे मनोरथ सिद्ध भी हो जाय। अब फिर उसी श्लाघा की उक्ति से कवि उसके मन का भाव अपने अनुकूल करके प्रस्तुत करता है, केवल सुरुचि और युक्ति के निर्वाह के लिये, वरन् वह तो स्वयं कहता है—

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्याद परिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥

"कहाँ तो धुआँ, आग, पानी और हवा का संघात् मेघ और कहाँ चतुर (समर्थ इन्द्रियोंवाले) चेतन प्राणियों से पठाये जाने योग्य सन्देश ! पर अपनी उत्सुकतावश इस (खुले) हृदय को न विचार कर यक्ष ने मेघ से ही याचना की। काम के मारे हुए (मदनातुर जन) चेतन और अचेतन में भेद नहीं कर पाते, उनके प्रति स्वभाव से ही दीन हो जाते हैं।

अपने इस अद्भुत काव्य के अन्तिम श्लोक में मेघ से विदा लेता हुआ यक्ष उस सुरुचि और सौहार्द का परिचय देता है जिसकी उपमा अन्यत्र दुर्लभ है—

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रर्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्धया।
इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा संभृतश्री-
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः॥

"जलद, सौहार्द से अथवा मुझे विधुर (वियुक्त) मानकर, या मुझमें करुण बुद्धि (कृपया) होने के कारण मुझ अनुचित प्रार्थना करनेवाले का यह इष्ट सम्पादित कर (निरन्तर) बरसने से विशेष कान्ति धारण करते हुए इष्ट देशों में (यथेच्छ) विचरो। और क्षणमात्र के लिये भी मेरी तरह विद्युत् (तुम्हारी पत्नी) से तुम्हारा वियोग न हो!"

कितना सुन्दर मंगलमय आशीर्वचन है। यह श्लोक जो मेघदूत को समाप्त भी करता है, परम्परा के अनुकूल, साथ ही उपकार करनेवाले मित्र के प्रति यक्ष का कृतज्ञता-ज्ञापन भी है। किसी को भी कुछ करने के लिये कहना शिष्टता की सुकुमार सीमा में धृष्टता ही है, अनुचित आचरण, इससे उसके लिये यक्ष क्षमा-सा माँगता है, अपनी याचना को अनुचित स्वीकार करता है क्योंकि वह अन्य को अपने कार्य में नियुक्त करता है। साथ ही मेघ को कार्यान्तिर निर्द्वन्द्व स्वच्छन्द विचरण करने का आशीर्वाद देता है। फिर कामना करता है कि मेघ का उसकी प्रेयसी चपला से कभी क्षण भर के लिये भी वियोग न हो। भुक्त-भोगी है, विरह की यातना सह रहा है, चाहता है वह क्लेश किसी को न हो।

मेघदूत की लोकप्रियता के कारण उसमें प्रक्षिप्त श्लोक भी आये हैं। इसी कारण विविध संस्करणों और पाठों में उसके श्लोकों की भिन्न-भिन्न संख्याएं मिलती हैं। जिनसेन के पाठ में

१२० हैं, वल्लभदेव के संस्करण में १११ हैं, दक्षिणावतारनाथ में ११० और मल्लिनाथ की संजीवनी टीका वाले पाठ में ११८ श्लोक। हमने यहाँ मल्लिनाथ का पाठ ही माना है।

कुछ लोगों को तो यक्ष की यह कथा इतनी करुण और कष्टकर लगी कि उन्होंने कालिदास की ध्वनि का भी महत्व नहीं समझा और शापान्त में जो उन्होंने यक्ष के घर आने से पहले ही काव्य समाप्त कर दिया उसे त्रुटि मान कर एक ऐसा श्लोक भी जोड़ दिया जिसमें अवधि समाप्त होने पर यक्ष-यक्षिणी का संयोग हो जाता है—

श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्ते (न्तं) सदयहृदयः संविधायास्तकोपः।
संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दंपती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टानवि (भि) रतसुखं भोजयामास शश्वत्॥

देश-विदेश सर्वत्र मेघदूत की प्रशंसा हुई है। देश में तो संस्कृत के अनेक कवियों ने उसके अनुकरण में अनेक दूत-काव्य लिखे हैं। आठवीं सदी में ही जैन कवि जिनसेन ने पार्श्वनाथ का चरित लिखते हुए समूचे मेघदूत का उपयोग कर लिया था। बारहवीं सदी में जयदेव के समकालीन और लक्ष्मणसेन के संरक्षित कवि धोयी ने मेघदूत के ही अनुकरण में अपना 'पवनदूत' लिखा। इधर हाल में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'हरिऔध' 'प्रियप्रवास' नामक काव्य में कृष्ण के पास गोपियों ने पवन द्वारा अपने संदेश भेजे हैं, जो मेघदूत की ही अनुकृति है। इस प्रकार जाने-अनजाने इस काव्य के सैकड़ों अनुकरण संस्कृत और प्राकृतों और देशी भाषाओं में हुए। प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने इस काव्य की बड़ी प्रशंसा की और उसके समकालीन रोमैंटिक

कवि शिलर ने तो उसी के आधार पर अपना 'मारिया स्टुअर्ट' नामक नाटक लिखा। उसमें (अंक ३, दृश्य १) स्काटों की रानी बादलों के ज़रिये अपने देश को संवाद भेजती है। रानी बन्दिनी है, उसकी निराश भारती स्वदेश के प्रति सहसा फूट पड़ी है। पर उसमें मेघदूत की गेयता कहाँ ?

मेघदूत इतना संपन्न, इतना गेय, इतना मधुर, प्रौढ़ और सुरुचि-सौरभ से भरा काव्य है कि यदि कालिदास ने सिवा इसके और कुछ न छोड़ा होता तब भी उनका स्थान संस्कृत कवियों की पहली पंक्ति में होता। इतनी वेदना, इतना औत्सुक्य, इतनी ध्वनि उसमें है कि पढ़ते मन मथ जाता है। कालिदास ने मेघदूत का नायक यक्ष चुना भी सकारण है। यक्ष तब प्रणय, विलास, आपान आदि में प्रतीक माने जाते थे। कुषाणकाल की रेलिंगों पर बनी शालभंजिका आदि मुद्राओं में नंगी खड़ी यक्षिणियों की अनन्त संख्या है। गुप्तकाल में भी यक्षों की हज़ारों मूर्तियाँ बनी थीं। स्वयं कुबेर, उनका स्वामी, सदा चषक लिये या पीता रहता है जो यक्षों के विलास का ही प्रतीक है।

३. रघुवंश

रघुवंश को भारतीय समीक्षकों ने प्राचीन काल से ही संस्कृत साहित्य का सुन्दरतम महाकाव्य माना है। महाकाव्य के सारे लक्षण इसमें शास्त्रीय रीति से प्रयुक्त हुए हैं और कहीं उनकी स्वाभाविकता में कमी नहीं आती। कुछ अजब नहीं जो महाकाव्य के लक्षण उसको देखकर ही विशेषतः बने हों।

रघुवंश की वंशतालिका प्रायः विष्णु-पुराण से ली हुई है यद्यपि कालिदास का उस दिशा में वर्णन, भाव, विचार आदि में

आदर्श आदि कवि वाल्मीकि हैं। कालिदास के पूर्ववर्ती काव्यों में सबसे महान् और प्रौढ़ प्रबन्ध वाल्मीकि का 'रामायण' था। कालिदास ने राम की कथा को सविस्तर वाल्मीकि से लिया और वह आभार स्वीकार किया है। परन्तु अपनी शैली और काव्य-शक्ति में वह कवि आदिकवि से प्रायः सभी प्रकार से बढ़ गया है। उसकी कृति महाकाव्य-साहित्य में शैली की सुईकारी है। पुराणों की लंबी तालिका वाले सूर्यवंशी राजाओं के इतिहास को उसने इस ख़ूबी और संयम से संक्षिप्त किया है कि वह सारा वृत्तान्त एकनिष्ठ कथा बन गई है। प्रधान कथा राम की है पर उनके अनेक पूर्वजों का चरित उसमें दिया हुआ है। राम के बाद रघुवंश का दूसरा प्रधान पात्र रघु है। रघुवंश की संक्षिप्त कथा सर्ग-प्रति-सर्ग इस प्रकार है।

सूर्यवंशी राजाओं में पहले इक्ष्वाकु हुये। उन्हीं के वंशधर दिलीप के साथ पहले सर्ग में रघुवंश की कथा आरंभ होती है। दिलीप की सुसंस्कृत रानी सुदक्षिणा है पर दोनों को बड़ा दुःख है कि उनके कोई पुत्र और कोसल (राजधानी अयोध्या) के राज्य का उत्तराधिकारी नहीं। अनेक प्रकार से चिन्ता कर राजा अपनी मागध रानी सुदक्षिणा के साथ रथ पर वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचता है और गुरुवर से सन्तानहीनता का कारण पूछता है। महर्षि बताते हैं कि किस प्रकार इन्द्रलोक से लौटते हुए राजाने जब रास्ते में चरती कामधेनु को प्रणाम न कर अनजाने उन देवताओं की गाय की उपेक्षा की तब उसने निःसन्तान होने का शाप दे दिया था। उसका मार्जन अब केवल एक विधि से हो सकता है, उसकी पुत्री महर्षि की गाय नन्दिनी की सेवा करके। दूसरे सर्ग में राजा और रानी सेवाव्रत धारण कर नन्दिनी की सेवा करते

हैं। प्रातः जब नन्दिनी वन में चरन जाती है तब राजा धनुष-बाण ले उसके पीछे हो लेता है। उठते-बैठते, चलते, रुकते सभी प्रकार से छायावत् वह उसके पीछे लगा रहता है। एक दिन उसकी निष्ठा की परीक्षा लेने के लिये नन्दिनी माया-सिंह उत्पन्न करती और उसके चंगुल में पड़ जाती है। राजा नन्दिनी के बदले उसे अपना शरीर प्रदान करता है। अन्त में नन्दिनी उसके व्रत से प्रसन्न होकर उसे पुत्र का वरदान देती है। दूसरा सर्ग समाप्त हो जाता है। तीसरे सर्ग में सुदक्षिणा गर्भ धारण करती है। समय पर उसे पुत्र-रत्न प्राप्त होता है, प्रसन्न राजा नवजात का नाम रघु रखता है। सन्तति के स्पर्श से उनका रोम-रोम पुलकित हो उठता है। उसकी तुतली बोली उनमें असाधारण आह्लाद भरती है। शीघ्र रघु सारी विद्याओं में पारंगत हो जाता है और कवच धारण करने योग्य होते ही राजा उस पर दायित्व डालने लगता है। युवराज बनने के बाद पिता के अश्वमेध के अश्व की रक्षा में वह उसके पीछे-पीछे घूमता वर्ष भर शत्रु-दलन करता है। सहसा अश्व ग़ायब हो जाता है। फिर नन्दिनी के दूध का अंजन कर जब रघु आँख खोलता है तब देखता है कि इन्द्र पूर्व दिशा में उसका घोड़ा लिये खड़ा है। दोनों में युद्ध होता है और अपने शौर्य से रघु इन्द्र को जब चकित कर देता है तब देवराज उस घोड़े को छोड़ कुछ भी वरदान माँगने को कहता है। युवराज माँगता है कि घोड़े के बिना भी उसके पिता को अश्वमेध का सारा पुण्य प्राप्त हो। इन्द्र के वरदान के बाद वह पिता के पास लौटता है। राजा यज्ञक्रिया समाप्त कर बेटे को राजछत्र दे कुल की परम्परा के अनुसार वन चला जाता है। रघु राजा होता है। चौथे सर्ग में रघु दिग्वि-

जय के लिये निकलता है। सुह्म और बंगाल के राजाओं को हरा-कर वहीं वह गंगा के डेल्टा में विजय-स्तंभ खड़ा करता है और पूर्व-सागर के तीर-तीर दक्खिन चलता है। कलिंग की राजसेना उसकी राह नहीं रोक पाती और वह कावेरी पारकर पाण्ड्यों के राज में जा पहुँचता है। दक्षिण जाते पाण्ड्यों के प्रताप से सूर्यतक का तेज नष्ट हो जाता है पर रघु उनसे कर के रूप में मोती वसूल करता है। फिर मलय और दर्दुर पहाड़ियों के बीच से पालघाट की राह वह अपरान्त जीतने सह्याद्रि से लगे पच्छिमी समुद्रतट पर जा उतरता है। उसकी सेना से उठी धूल केरलियों के अलक-जालों में भर जाती है। तब जल की राह छोड़ कठिन स्थल मार्ग से वह पारसीकों को जीतने उनकी दाख ढकी भूमि पर जा पहुँचता है। पारसीक पगड़ी उतारकर उसके पाँव पड़ते हैं और उसके सैनिक सुरा से अपने सूखे कंठ गीले करते हैं। तब उत्तर दिशा में चल रघु वह्लीक (बैक्ट्रिया) पहुँचता है और वहाँ हूणों को परास्त कर अपने घोड़े वक्षु तीर के केसर के खेतों में डाल देता है। केसर फूली हुई है और उसके फूल लोटते घोड़ों के सटों में सट जाते हैं। फिर राह में कम्बोजों को परास्त करता वह हिमालय पर चढ़ जाता है। राह में पर्वतवासी उत्सव संकेतों को विरतोत्सव करता वह लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) लाँघ कामरूप (आसाम) की राजधानी प्राग्ज्योतिष जा पहुँचता है और कामरूपों से कर में गजों के दल लेता है। यहाँ उसकी दिग्विजय समाप्त हो जाती है।

इस दिग्विजय की सीमायें प्रायः वही हैं जो समुद्रगुप्त की दिग्विजय की हैं, दक्षिण की दिशा में, और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की उत्तर की दिशा में। मेहरौली स्तंभ के लेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने बंग में शत्रुओं को नष्ट कर पंजाब की सातों नदियों

को पार कर वह्लीकों (हूणों) को उनके देश वंक्षु तीर के वह्लीक में हराया। यदि पिता-पुत्र दोनों की विजय-यात्रायें मिला दी जायें तो वह आदर्श रेखा बन जायेगी जो रघु की दिग्विजय की है। कवि ने दोनों की दिग्विजय देखी थी (पहले की कम से कम सुनी थी) और उसने अपने आदर्श रघु (जिसके नाम पर महाकवि ने अपने सर्वोत्तम प्रबन्ध का, 'सूर्यवंश', इक्ष्वाकु, राम आदि के बावजूद, नाम रखा) की दिग्विजय की सीमायें उनकी सम्मिलित विजयों के स्थान पर रख दिया।

पाँचवें सर्ग में रघु के पास वरतन्तु का शिष्य कौत्स गुरु-दक्षिणा का अमित धन माँगने आता है। अपनी उदारता से रघु स्वयं निर्धन हो गया है और अर्घ्य मिट्टी के पात्र से दे रहा है। पर ब्रह्मचारी की याचना पर कुबेर की स्वर्णराशि पर आक्रमण करने को तत्पर होता है। धनपति कुबेर डर के मारे स्वर्ण की वर्षा कर देते हैं और धन पाकर उपकृत स्नातक रघु को पुत्र पाने का आशीर्वाद देकर चला जाता है। पुत्र अज नाम से विख्यात होता है और शीघ्र शौर्य और शक्ति में अपने पिता के अनुरूप हो जाता है। विदर्भराज की भगिनी इन्दुमती के स्वयंवर का निमंत्रण पाकर उसका पिता अज को विदर्भ भेजता है। नर्मदा के जंगलों में वह प्रमत्त गजराज को मारता है। गजराज वास्तव में गन्धर्व था जो शापवश हाथी हो गया था। इक्ष्वाकु-वंशीय के बाण से मरने पर उसकी गति लिखी थी, सो अपने प्रकृतरुप में आकर उसने अज को मंत्रास्त्र प्रदान किया। अज सेनासहित चल कर विदर्भ नगर पहुँचा, जहाँ स्वागतपूर्वक राजा ने उसे ठहराया। छठा सर्ग बड़े महत्व का है। इन्दुमती के स्वयंवर का दृश्य है। चारों ओर मंच बने हैं जिन पर देश के राजा इन्दु-

मती को व्याहने की आशा से आकर विराजमान हैं। उस काल के राज्यों के प्रायः सभी प्रतिनिधि उपस्थित हैं। सखी सुनन्दा इन्दुमती को लिये मंचों के बीच चलती है। पतिंवरा के पास आते ही राजाओं की गति रात में चलती मशाल के सामने राजमार्ग पर खड़ी अट्टालिकाओं की-सी हो जाती है। जैसे मशाल के निकटवाली अट्टालिका प्रकाश से चमक उठती है पर मशाल के आगे बढ़ते ही अन्धकार में विलीन हो जाती है वैसे ही इन्दुमती के पास आते ही निकट का राजा आशा से चमक उठता है पर उसके आगे बढ़ते ही निराशा और विषाद से उसका चेहरा विवर्ण (फक!) हो जाता है। आगेवाला राजा तब तक आशा से खिल उठता है। राजा अपनी ओर कुमारी को आकृष्ट करने के लिये अनेक प्रकार की चेष्टायें करते हैं जिनका वर्णन बड़े प्रच्छन्न कौशल से कालिदास ने किया है। पुरुष की भाँति निर्भीक बोलनेवाली राजवंशों के वृत्तान्त और भेद जाननेवाली सुनन्दा प्रत्येक की प्रशंसा करती भीतर का रहस्य खोलती जाती है। एक उनमें से जुआरी है, इससे पतिरूप में प्रतिकूल। इसी प्रकार औरों के गुण भी दोष रूप में बदल जाते हैं। पर अज के निकट जा कर इन्दुमती वैसे ही रुक जाती है जैसे समुद्र के सामने नदी। आगे अब जाना शेष नहीं रहा। उसने अज के गले में जयमाल डाल दी। सातवें सर्ग में अज और इन्दुमती का विवाह संपन्न होता है। विवाह के लिये जाते अज को देखने के लिये जिस तीव्रता से नारियाँ छतों पर, वातायनों में आ खड़ी होती हैं वह वर्णन अद्भुत है। पर वह प्रायः सारा का सारा अश्वघोष के बुद्धचरित से लिया हुआ है। निःसन्देह हमारा कवि अश्वघोष की रूखी वाणी को अपनी गिरा में ढाल कर उसे अत्यन्त मधुर और आकर्षक

बना देता है। और उन श्लोकों से वह इतना प्रभावित है कि अपने कुमारसंभव के उसी प्रसंग (सातवाँ सर्ग—शिव-विवाह) में उन्हीं श्लोकों को, बिना एक शब्द बदले, फिर लिख देता है। घर लौटते समय राह में स्वयंवर में हारे हुये राजा अज पर आक्रमण कर इन्दुमती को छीन लेना चाहते हैं। अज घोर युद्ध करता है। और गन्धर्व के दिये मन्त्रपूत अस्त्र द्वारा उन्हें परास्त कर देता है। फिर उनके शरण में आ जाने से उनके प्राणों की भिक्षा दे अयोध्या लौट आता है। सर्ग समाप्त हो जाता है। अभी वह विवाह का कंकण छोड़ता भी नहीं कि रघु के मरने पर उसे श्राद्ध करना पड़ता है। रघु पहले से ही योगी-सा रहने लगा था और उसका अन्त्येष्ठिकर्म योगियों के अनुकूल होता है। अपने शत्रुओं का नाश कर एक दिन विहार करने के विचार से वह उद्यान में गया। साथ इन्दुमती भी थी। दोनों असाधारण सुखी थे कि यकायक गगनगामी नारद की वीणा से छूटकर फूलों की एक माला इन्दु-मती की छाती पर गिरी और वह तत्काल निर्जीव हो गई। वास्तव में वह पूर्वजन्म की अप्सरा थी जो शापवश इन्दुमती हुई थी। अब वह शापमुक्त होकर स्वाभाविक अप्सरा बन गई। अज का विलाप अत्यन्त मार्मिक है। ऐसा विलाप केवल कालिदास लिख सकता था। और लिखा भी उसीने अपने कुमारसम्भव में कामदेव की मृत्यु पर रति का विलाप। सब प्रकार से लोग अज को ढाढस बँधाते हैं पर उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बार बार उसे इन्दुमती के साथ किये विलास की याद आती है, बार बार उसे बखान वह रो पड़ता है। उसका हृदय किसी प्रकार नहीं शान्ति ग्रहण कर पाता और अन्त में वह भी अपने शरीर को छोड़ देता है। उसके बाद उसका पुत्र दशरथ अयोध्या का राजा होता

है। नवें सर्ग में कालिदास उसके शासन और नीति का वर्णन करता है। वसन्त आने पर एक दिन राजा वन में शिकार के लिये जाता है। सारा वन वसन्तश्री से प्रसन्न है। कवि ने वसन्त का अपूर्व वर्णन किया है। फिर उसके आखेट का वर्णन आता है। मृगों, भैंसों, सुअरों आदि को मार कर राजा ढेर कर देता है, अन्त में एक भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। गज के धोखे से कलश में जल भरते हुए मुनिकुमार को वह बाण मार देता है। मुनिकुमार अपने माता पिता का—जिन्हें वह स्वयं ढोकर इधर उधर ले जाया करता था—पता बताकर मर जाता है। राजा जब उसे लेकर उसके पिता के पास पहुँचता है तो पिता उसे पुत्र के वियोग में उसी की भांति देह छोड़ने का शाप देकर मर जाता है। दसवें सर्ग में दशरथ के चार पुत्र होने का वर्णन है। इनमें एक—राम—विष्णु का अवतार है। इस सर्ग में पर्याप्त पौराणिक सामग्री आ गई है। पूरे महाकाव्य में सबसे शक्तिमान और कुल का प्रधान राजा जन्म लेता है, इससे जन्म से ही राम के प्रति कालिदास की विशेष निष्ठा है। इसका एक और कारण है। गुप्त सम्राटों की ही भाँति कालिदास भी अतीव सहिष्णु हैं। वे हैं तो स्वयं शैव, शिव और संभवतः काली के भी भक्त, परन्तु उनका हृदय अत्यन्त उदार है और सारे पौराणिक देवताओं में उन्हें निष्ठा है। इसीसे रघुवंश विष्णु-वंश का महाकाव्य होते हुए भी तुलसीदास के रामचरितमानस की भाँति उसका आरंभ वे शिव की आराधना से करते हैं, पर कुमारसंभव में वे विष्णु और ब्रह्मा के बखान बिना भी नहीं रह पाते। ग्यारहवें सर्ग में राम विश्वामित्र के आश्रम में जा ताड़का-वध कर मुनि का आश्रम राक्षसों से निरापद बनाते हैं। फिर राजा जनक की कन्या सीता

के स्वयंवर का निमंत्रण पाकर मुनि के साथ मिथिला जाते और वहाँ शिव का धनुष तोड़ सीता को व्याहते हैं। अयोध्या लौटते समय परशुराम के कोप का भंजन करते हैं। बारहवें सर्ग में दशरथ राम को युवराज बनाना चाहते हैं पर मन्थरा की राय से राजा की छोटी रानी कैकेयी राजा से राम को बारह वर्ष वनवास और अपने बेटे भरत को अयोध्या का राज माँग लेती है। राम, सीता और लक्ष्मण वन चले जाते हैं। राजा पुत्र के वियोग में प्राण त्याग देता है। उधर वन में रावण सीता को लंका हर ले जाता है। सुग्रीव से मित्रता कर राम उसके बन्दरों की सेना सहित लंका पहुंच रावण से युद्ध करते और उसे मार डालते हैं। अगले सर्ग में पुष्पक विमानपर सीता को ले राम अयोध्या पहुँचते हैं। राह में समुद्र का अद्भुत यथार्थपरक वर्णन है।

चौदहवाँ सर्ग बड़ा मार्मिक है। कवि का कवित्व सभी प्रकार से जग उठा है। चित्रकार की कूची से जैसे उसने राम और सीता के संयोग और वियोग का जीवन लिख दिया है। राम के आने से उनकी माताओं के आँसू सूख जाते हैं। केवल सीता इसलिये रोती है कि उसी के कारण उसके पति को कितना कष्ट हुआ। बड़ी धूमधाम से राम का राज्याभिषेक होता है, सारी अयोध्या प्रसन्न है। सहसा अभाग्य फलता है। जनश्रुति फैल चलती है—सीता इतने दिनों अरक्षिता कामी रावण के घर रह आई है, राम कैसे उसे अपने साथ रख पाते हैं सीता गर्भवती है पर राम अपना कर्तव्य स्थिर कर लेते हैं। लक्ष्मण को बुला कर सीता को उसके साथ वाल्मीकि के आश्रम को भेज देते हैं। लक्ष्मण रथ पर बैठाकर सीता को वन ले जाते हैं और वहाँ उसे छोड़ते हुए उससे सच्ची स्थिति बता देते हैं। वह स्थल इतना

करुण, इतना मार्मिक है कि लक्ष्मण-सा कठोर हृदय भी उसे सम्हाल नहीं पाता। संज्ञा खो देता है। जब होश में आता है तब विलाप करने लगता है कि लंका में मेघनाद ने तो मार ही डाला था फिर यह दिन देखने के लिये ही हनुमान ने उसे जिलाया। सीता चुपचाप पति की वह आज्ञा सुन लेती है। लक्ष्मण को समझा कर भेज देती है। पर अकेले होने पर उसका धीरज टूट जाता है और वह चीत्कार कर उठती है। महर्षि वाल्मीकि उसका रुदन सुन कर उधर आ निकलते हैं और उसे मित्र की पुत्रवधू कह कर आश्रम में शरण देते हैं। राम शान्तिपूर्वक अयोध्या में राज करते हैं। यज्ञ में सीता की सुवर्ण-प्रतिमा बनवा कर क्रिया संपन्न करते हैं।

पन्द्रहवें सर्ग में राजा अपने भाइयों सहित मथुरा आदि के राक्षसों का नाश करते हैं। उधर वाल्मीकि के आश्रम में सीता के लव और कुश दो पुत्र होते हैं, जिन्हें वाल्मीकि सभी प्रकार से शिक्षा देते हैं। रामकथा लिखकर उन्हें देते हैं और वे उसे गा-गाकर माता का हृदय शान्त करते हैं। राजा राम का अश्वमेध आरंभ हो जाता है। पर्णकुटी में सीता की प्रतिमा के पास वे आसन ग्रहण करते हैं। वहीं वे अपने ही पुत्रों से, बिना उन्हें पहचाने, अपने वीर कार्यों की गाथा सुनते हैं। यही वाल्मीकि-रचित रामायण की पूर्ववर्ती कथा है। राजा और नागरिक बच्चों को पहचान लेते हैं। वाल्मीकि सीता को फिर से ग्रहण करने के लिये राम से प्रार्थना करते हैं। राम सीता के सतीत्व संबंधी प्रमाण चाहते हैं। सीता आती है और राम के सामने शपथ-पूर्वक अपनी पवित्रता व्यक्त करती है। उस शपथ में बड़ी व्यथा है और वह उसके ज़रिये अपनी जननी पृथ्वी को पुकार

उठती है। पृथ्वी फट जाती है और सीता उसके वक्ष में समा जाती है। राम को सीता के अदृश्य होने से बड़ा कष्ट होता है वे राज्य अपने पुत्रों को सौंप जनता के साथ नगर से बाहर निकल जाते हैं। वहाँ स्वर्गीय रथ पर चढ़ कर अदृश्य हो जाते हैं।

अगला सर्ग भी बड़ा सुन्दर है। सारा उत्तर भारत पहले ही भाइयों के पुत्रों में बँट चुका है। कुश दक्षिण-कोशल में कुशावती नाम की अपनी राजधानी बसा राज करने लगे हैं। एक रात स्वप्न में कुश के निकट अयोध्या नगरी प्रोषितपतिका का रूप धर कर जाती है, अयोध्या की गिरी दशा का वर्णन करती है और वहाँ लौट चलने के लिये सविस्तर समझाती है। कुश ससैन्य अयोध्या लौट आते हैं। शिल्पियों के संघ नगर के पुनर्निर्माण में लग जाते हैं और नगरी फिर नये परिधानों से चमक उठती है। अत्यन्त सुन्दर ग्रीष्म का उस सर्ग में कवि ने वर्णन किया है। सरयू की जलक्रीड़ा का प्रसंग भी बड़ा आकर्षक है।

आगे के सर्ग भी उसी कवि-कुशलता से रचे गये हैं। अठारहवें-उन्नीसवें सर्गों के संबंध में कुछ लोगों ने सन्देह किया है कि शायद वे कालिदास के नहीं हैं। कारण कि उन्नीसवें में असाधारण विलासिता और कामुतका का प्रदर्शन है। परन्तु इस कारण इन सर्गों का कालिदास का न होना मानना कठिन है। यह सही है कि अग्निवर्ण का विलास निन्द्य है, यह भी सही है कि राजा का प्रजा के दर्शन के लिये खिड़की से पैर लटका देना शायद कालिदास की सुरुचि पर चोट करता है। पर नहीं, यह तो राजा की पतितावस्था का कवि स्वयं प्रदर्शन करना चाहता है। यह भी सही है कि उसके पहले के सर्ग में या उसमें भी कुछ श्लेष आ गये हैं, पर हमारा तो विश्वास है कि काव्यत्व में किसी प्रकार कमी

नहीं हुई है और उन्नीसवें सर्ग के अग्निवर्ण के विलास-वर्णन में काव्य पानी की भाँति बहता है। सोलहवें-सत्रहवें में बड़ी तीव्रता से और बड़े संक्षेप में राजा, अतिथि आदि की शेष कथा कवि कह जाता है। आखिर पुराणों में भी कुश के बाद की कथा कुछ बहुत शालीन नहीं है, इससे कालिदास का भी उसे उचित संक्षिप्त कर देना अर्थ रखता है। उन्नीसवाँ सर्ग रघुवंश का अन्तिम सर्ग है। उसमें कामुक राजा अग्निवर्ण की कामुकता का वर्णन है। वह स्वयं वारांगनाओं के साथ नाचता-गाता है। राज्य का कार्य मंत्रियों को सौंप देता है, और एक दिन क्षय रोग से मर जाता है। उसकी रानी तब गर्भवती है और अपने गर्भ के बालक के अधिकार से गद्दी पर बैठती है। कथा समाप्त हो जाती है। अभी वस्तुतः सूर्य वंश का अन्त नहीं हुआ और लगता है कि कालिदास इस महाकाव्य को भी पूर्णतः समाप्त नहीं कर सके थे, यद्यपि आगे लिखना कुल की शालीनता के अभाव में कुछ महत्व भी नहीं रखता।

४. कुमारसम्भव

कुमारसम्भव कालिदास का प्रौढ़तम, सुन्दरतम काव्य है। लिखा भी इसे उन्होंने संभवतः सब के बाद था। है भी यह अपूर्ण। वैसे इसके भी साधारण संस्करणों में अठारह सर्ग छपे हैं पर स्पष्टतः प्रमाणतः आठवें के बाद के सर्ग महाकवि के लिखे नहीं हैं। उन्हें प्राचीनों ने उद्धृत कर प्रमाणित नहीं किया। उनका काव्य भी घटिया क़िस्म का है। एक परम्परा भी है कि आठवें सर्ग में शिव-पार्वती के विलास-वर्णन को कुछ लोगों ने धिक्कारा और कालिदास को भी जब स्वयं अपने ही इष्ट देवता के प्रति

यह अभद्र लगा तब उन्होंने आगे लिखना बन्द कर दिया। परन्तु इस कारण कालिदास का काव्य को पूरा न करना समझ में नहीं आता। वे उचित समाधान कर सकते थे, फिर से लिख सकते थे। और साथ ही यह भी सही है, काव्य के नाम को देखते हुए, कि कुमार का जन्म होने से ही यह नाम सार्थक हो सकता। तारकासुर के वध के लिए ही देवताओं ने छल से शिव का विवाह कराया था। उस विवाह की परिणति कुमार की उत्पत्ति में ही थी। पर उसका इस काव्य में न होना, इसके पिछले दस अध्याय प्रक्षिप्त मान कर, यही सिद्ध करता है कि कालिदास किसी अन्य अनिवार्य कारणवश काव्य को पूरा न कर सके। कुछ आश्चर्य नहीं कि इसका कारण कवि-पुंगव की मृत्यु ही रहा हो।

कुमारसम्भव के आठवें सर्ग के कालिदासरचित होने में किसी प्रकार का संशय नहीं होना चाहिये। उस विवाह की परिणति कुमार के जन्म में ही है और कुमार के जन्म की भूमिका शिव-पार्वती का उल्लसित विलास ही है। वस्तुतः शिव-पार्वती का यह विलास कामुकता नहीं है। उनका परिणय हिन्दू विवाह का आदर्श है, विवाह की सारी अखण्डनीय पावनता उसी पर निर्भर करती है। फिर शिव और पार्वती के ही ताण्डव और लास्य से जब संगीत, नृत्य, अभिनय आदि की उत्पत्ति होती है तब उन दोनों का वैसा भावमय आचरण कुछ अनुचित नहीं है। आठवाँ सर्ग इस कारण युक्तियुक्त है। फिर उसे भारवि, कुमार-दास और माघ जैसे प्राचीन काव्यकार जानते हैं और अलंकार-शास्त्र के अनेक रचयिता उसके स्थल अपनी कृतियों में उद्धृत करते हैं। इससे आठवें सर्ग के कालिदास का होने में संदेह का स्थान नहीं है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कुमारसम्भव कालिदास की सर्वोत्तम कृति है। आठ सर्गों में ही इतनी विशद विविधता, प्रेम और तप की एकस्थ साधना, काम और समाधि, समाधि-भंजन और काम-दहन, रति-विलाप और वैवाहिक दाम्पत्य आदर्श और कहाँ मिलेगा? कल्पना की उड़ान, भावों की उष्णता, प्रेम का इतना नैष्ठिक उन्मुक्त प्रतिपादन और कहीं नहीं मिलते। देवताओं और देवयोनियों, यक्ष-गन्धर्वों को कवि पृथ्वी पर खींच लाया है और उनके साथ आदर का व्यवहार होता हुआ भी वह पार्थिव सर्वथा मानव व्यवहार है। कवि ने स्वर्ग पृथ्वी पर उतार लिया है।

कुमारसम्भव की कथा इस प्रकार है। पहले सर्ग में हिमालय का वर्णन, शिव के कैलास का, यक्षों, गन्धर्वों, विद्याधरों का। पार्वतीय उपत्यका का इतना मनोहर इतना समृद्ध, इतना भावमय वर्णन संसार के साहित्य में अन्यत्र नहीं है। स्वयं हिमालय पृथ्वी का मानदण्ड है, पूर्व और पश्चिम के समुद्रों में प्रविष्ट हो रहा है, उत्तर की दिशा में स्थित देवताओं की आत्मा है। देवता रहते भी तो उत्तर में ही हैं। स्वयं हिमालय में ही शिव आदि देवताओं का निवास है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीऽवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

अनेक देवयोनियाँ, यक्षिणियाँ, विद्याधरियाँ उसकी कन्दराओं में खेलती हैं। स्वर्ग से उतरती गंगा की आर्द्र नीहारिकायें देवदारों पर गिरती हैं, मोरों को हुलसाती हैं। किन्नरियाँ मृगियों के पीछे भागती हैं, सोने की सिकता से खेलती हैं, भुर्ज-

पत्रों पर प्रेम-पत्र लिखती हैं। जीवन, जिसमें वस्तुओं के न रहते भी किसी वस्तु का अभाव नहीं है, लहरा रहा है। नये अंकुर जैसे सर्वत्र फूट रहे हैं, पल्लव-पल्लव से जैसे हँसी का सोत फूट रहा है। और उधर उसी बीच वह शिव बैठे हैं, घोर समाधि में डूबे। अनेकानेक बालायें, उन्हीं में गिरिराज की कन्या गौरी भी, शिव की आवश्यकताओं की व्यवस्था करती हैं। उनके लिए फूल तोड़ती हैं, जल और कुशादि लाती हैं। सौन्दर्य और संयम का अपूर्व संगम है। दूसरे सर्ग में आगे का वर्णन है। देवासुर संग्राम हो रहा है जिसमें देवता बारंबार पराजित हो रहे हैं। तारकासुर का प्रचण्ड तेज देवराज नहीं सह सकते। तब देवता ब्रह्मा के पास जाकर उनसे तारक का नाश करने को कहते हैं। अनेक प्रकार से देवता उनकी स्तुति करते हैं। ब्रह्मा उनका कष्ट भी समझते हैं, पर करें क्या? कहते हैं कि तारक उन्हीं का सिरजा हुआ है, उन्हीं की रक्षा में है पर अपने ही लगाये वृक्ष को काटें क्यों कर? देवता फिर उसके नाश का उपाय पूछते हैं। कहते हैं, हमारा इन्द्र तो उसके सामने निर्वीर्य हो जाता है; हमें किसी युक्ति से ऐसा सेनानी दीजिये जिससे संग्राम में हमारी अब आगे पराजय न हो। सारा चराचर असुर के उपद्रव से त्राहि-त्राहि कर रहा है। ब्रह्मा कहते हैं कि उपाय बस एक ही है, यदि नीललोहित शिव गिरिराज की कन्या उमा को स्वीकार करें और उनसे कुमार उत्पन्न हों तो वही तुम्हारा सेनानी हो सकते हैं और वही शिव का तेज उस दुर्द्धर्ष दानव का नाश कर सकता है। इससे उसी शिव को उमा के प्रति आकृष्ट करने का उपाय सोचो। देवता जाते हैं। देवराज इन्द्र मुस्करा कर मन में कामदेव का स्मरण करते हैं और वह पुष्पधन्वा झट आ उपस्थित होता है। दूसरे

सर्ग की कथा समाप्त हो जाती है। अगले सर्ग में काम शिव को जीतने को तैयार हो जाता है पर वसन्त और रति की सहायता चाहता है। वह सहायता उसे भरपूर मिलती है। वसन्त अपनी शक्ति बिखेर देता है। चराचर में नव-जीवन रस उठता है। जड़-चेतन सभी उसके स्पर्श से कामार्त हो उठते हैं। कवि का मानस जैसे अपनी अनन्त निसर्ग-सम्पदा का कोष उन्मुक्त कर देता है। उसकी लेखनी अद्भुत विश्वास और शक्ति के साथ अभिनव वसन्त के चित्र लिखने लगती है।

काम वसन्त के साहचर्य से शिव पर अपना बाण चलाने चलता है। आम्र-मंजरी के रसासव से कषायकण्ठ पुंस्कोकिल प्रमत्त रवने लगता है, प्रिया से अकारण उलझ उसका मुख चूम लेता है। भृङ्ग चारों ओर कूज रहे हैं। मधु और मदन के साहचर्य से जो आग लग चली उसे कौन बुझा सकता था? मन्मथ अपना धनुष लिये आमों पर जा चढ़ा। मकरन्द बरसने लगा। पुष्पासव से घूर्णित नेत्र वाले किम्पुरुष प्रियाओं की ओर झुके। पुष्पभार से लदी लतायें तरुओं को अपने बाहु-पाश में भर झूमने लगीं। उधर शिव की समाधि न टूटे इससे नन्दी लतागृह के द्वार पर खड़ा है, स्वर्ण की छड़ी प्रकोष्ट पर टेके, मुंह पर उंगली रखे गणों को चुप कराता हुआ—कोई चपलता न कर दे। उसके शासन से वृक्ष निष्कम्प, भ्रमर निःशब्द, अण्डज मूक, मृग स्थिर चित्रित से हो जाते हैं। और तभी काम ने त्र्यंबक को पर्यंक बन्ध का आसन मारे निर्वात समाधि में बैठे देखा। यह वर्णन विशेष कर शिव की समाधि का तो सर्वथा अलभ्य है। इस प्रकार बैठे मन से भी अदृश्य त्रिनेत्र को जो मदन ने निकट ही देखा तो उसने जाना भी नहीं उसके सुन्न हाथों से धनुष-बाण कब सरक पड़े। तभी वसन्त

पुष्पाभरण पहने संचारिणी पल्लविनी लता की भाँति उमा सखियों सहित आ पहुँची। उस रति को भी लजाने वाली निष्कलुष अंगों वाली उमा को देख जितेन्द्रिय शिव के प्रति भी काम को अपने कार्य की सिद्धि में फिर से आस्था जगी। उमा ने माथा टेक कर शिव को प्रणाम किया। शिव ने अविभाजित स्नेह वाला पति पाने का आशीर्वाद दिया। तभी पुष्पधन्वा ने धनुष पर सम्मोहन नामक अमोघ बाण चढ़ाया। तभी चन्द्रमा के उदय होते समुद्र की भाँति शिव का धैर्य तनिक विचलित हुआ और विलोचन उमा के बिंब सरीखे होठों पर जा लगे, रति-भाव का उदय हुआ। और तभी शैल-सुता भी बाल कदम्ब के से पुलकित अंगों से अपने भाव जताती हुई विलज्जित नयनों को फैलाती चारुतर मुख से तनिक तिरछी होकर खड़ी हुई। शिव ने तत्काल अपने को सम्हाला और क्यों मन इस प्रकार सरका यह जानने के लिए दिशाओं में दृष्टि फेंकी। तभी आलीढ़ मुद्रा में स्थित प्रत्यंचा खींच धनुष को मंडलाकार किये काम को बाण छोड़ने को उद्यत देखा। फिर तो तीसरा नेत्र खुल गया, दिशाओं में आग लग गई, 'क्रोध रोको, रोको प्रभु अपना क्रोध' (क्रोधं प्रभो संहर संहर) देवता चिल्ला उठे, मदन भस्म हो गया। चौथा सर्ग मदन की विधवा रति के विलाप का सर्ग है। अत्यन्त करुण विलाप है उसका, संभवतः अज के विलाप से भी करुण, मर्म को मथ देने वाला। वसन्त धीरज बँधाता है, पर रति को धैर्य कहाँ? कहती है, चिता प्रस्तुत करो, पति की राह लूँगी—शशि के साथ चाँदनी चली जाती है, मेघ के साथ ही चपला लुप्त हो जाती है, पति की राह नारी जाती है, इसे तो अचेतन भी जानते हैं। तभी आकाशवाणी होती है कि जीवन धारण करो, पति से संयोग होगा जब उमा का

तप फलेगा, शिव उसे अंगीकार करेंगे, जब उनका क्रोध अनुराग में बदलेगा। और रति शरीर जीवित रखती है।

पाँचवें सर्ग में स्थिति बदल जाती है। वसन्त, काम का संहार, मृत्यु की छाया, सब। तप और निष्ठा उनका स्थान लेते हैं। उमा असफल हुई थी शिव को पाने के अपने प्रयास में, नितान्त निराश। अपने भरे यौवन पर, अनिन्द्य रूप-राशि पर उसे बड़ी ग्लानि हुई। आफलोदय तप करने की उसने प्रतिज्ञा की। माता पिता ने उसे तप से विरत करने के लाख प्रयत्न किये पर वह अपने निश्चय से न हिली। उसने उत्कट तप आरंभ किया। ग्रीष्म ऋतु में वह पंचाग्नि तापने लगी, जाड़ों में बर्फ़ से ठंडे जल में खड़ी रहने लगी, बरसात में खुरदरी चट्टान पर सोने लगी। अन्न खाना छोड़ दिया, फिर कन्द-मूल भी, फिर तरु-पल्लव भी। और वह अपर्णा कहलाने लगी। फिर उसने जल तक छोड़ दिया। एक दिन एक ब्रह्मचारी आया। उसने पहले उसके तप और साधना की सुविधाओं की, शरीर के क्षमता की बात पूछी, कुछ उपदेश दिये, और अन्त में उसके उच्छ्वासों से उसके हृदय का रहस्य जान लिया। पूछने पर जब उसे ज्ञात हुआ कि उसका प्रिय शिव है तब वह शिव की, उनके कुल और रूप की, गणों, नन्दी आदि की निन्दा करने लगा। कुपित हो तपस्विनी ने उसका प्रतिवाद किया और ब्रह्मचारी जो वास्तव में शिव था अपने प्रकृत रूप में खड़ा हो गया। परन्तु विवाह गन्धर्वरीति से नहीं होना है, आदर्श प्राजापत्य हैं, इससे उसके सारे पूर्व-रूप उचित रीति से संपन्न होना है। वह पूर्व रीति छठे सर्ग में संपन्न होती है। शिव की ओर से अरुन्धती के साथ सप्तर्षि आते हैं, उसे उसके पिता गिरिराज हिमालय से शिव के लिए उसे माँगते हैं। पिता के पास खड़ी उमा आँखें झुकाये हाथ के

कमल की पंखुड़ियाँ गिन रही है और पिता अपनी पत्नी मैना की ओर देखता है, क्योंकि गृहस्थी में कन्या के विवाह में माता का निर्णय ही अधिक अर्थ रखता है। सातवें सर्ग में विवाह-प्रसंग है। शिव की बारात आती है और नारियाँ छतों पर वातायनों में, दौड़ जाती हैं। उनकी शीघ्रता का वर्णन कालिदास ने उन्हीं श्लोकों में किया है जिनमें अज के विवाह के समय उस प्रसंग का किया था। उन्हीं श्लोकों में जिनमें बुद्ध के दर्शन के लिये भागती नारियों का बुद्धचरित में अश्वघोष ने किया था। उमा वृद्धाओं को प्रणाम करती है, वृद्धायें आशीर्वाद देती हैं—'अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः', पति का अखण्ड प्रेम प्राप्त करो। उसका मंडन करती हुई माँ मैना इतनी प्रसन्न और चंचल हो उठी है कि उमा को तिलक कहीं का कहीं लगा देती है, कंकण कहीं का कहीं बाँध देती है। विवाह बड़े विधि से संपन्न होता है। आठवाँ कुमारसम्भव का अन्तिम सर्ग है। उसमें शिव और पार्वती के प्रणय-प्रसंग का निरूपण है। उस संबन्ध से असुरों का मान दलन करने वाले कुमार को उत्पन्न होना है, इससे उसकी यह अनिवार्य भूमिका है। अनन्त साधना और अनन्त तप अनन्त सुख का वितन्वन करते हैं। जो अनन्त तप करता है वही अनन्त आनन्द का भी अधिकारी है। शिव का जीवन तो तपःपूत है ही, उमा ने भी उस सुख के लिए अपने तप से तपस्वियों को लजा दिया था।

५. रघुवंश और कुमारसम्भव के कुछ स्थल

नीचे रघुवंश और कुमारसम्भव के कुछ सुन्दर स्थल दिये जाते हैं। वस्तुतः कालिदास की कृतियों में, विशेष कर कुमारसम्भव में, इतने सुन्दर स्थल हैं कि यदि कोई देखना चाहे तो प्रायः

प्रत्येक श्लोक में कुछ न कुछ ऐसा मिल जायेगा जो असाधारण होगा। इसलिए नीचे जो कुछ दिया गया है उससे यह न समझना चाहिए कि इससे आगे कुछ है ही नहीं या कि ये ही कालिदास के सुन्दरतम स्थल हैं। वस्तुतः कवि इतना प्रौढ़ और मार्मिक है कि वह लेखनी उठाता है और अनायास कमनीय सरस्वती बह चलती है। यहाँ कुछ स्थल बगैर विशेष व्यवस्था के दिये जाते हैं वरना कवि की सारी कृतियों को समूचा उतार देना पड़ेगा।

इन्दुमती के स्वयंवर में अंगराज को छोड़ कर पतिंवरा आगे जा रही है, तब कवि कहता है—

अथांगराजादवतीर्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी।
नासौ न काम्यः न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः॥६,३०॥

"तब अंगराज के ऊपर से दृष्टि हटा कर कुमारी ने सुनन्दा से कहा—(आगे) चलो! ऐसा नहीं कि राजा सुन्दर न था, ऐसा भी नहीं कि उसकी वह सुन्दरता उसने भले प्रकार देख न पायी हो, पर (बात केवल इतनी है कि) लोगों की रुचियाँ भिन्न भिन्न होती हैं।" अच्छा-भला छिपा हास्य है, व्यंगमिश्रित।

उसी स्वयंवर में इन्दुमती का राजाओं को एक के बाद एक छोड़ते हुए आगे बढ़ने पर कवि की उक्ति—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥६, ६७॥

रात्रि में ले जाई जाती दीपशिखा की भाँति वह पतिंवरा जिस-जिस को छोड़ कर आगे निकलती गई उस-उस राजा का चेहरा राजमार्ग पर खड़ी अट्टालिकाओं की भाँति विवर्ण (फ़क) होता गया। जैसे मशाल के पास आने से निकट वाला भवन

चमक उठता है पर मशाल के आगे बढ़ते ही उस पर अँधेरा छा जाता है, वैसे ही इन्दुमती के निकट आते ही राजा आशा से चमक उठते थे पर उस बलती दीप-शिखा के सामने से हटते ही निराशा से उनकी कान्ति मलिन पड़ जाती थी।

अज के विवाहार्थ राजमार्ग पर जाते समय स्त्रियाँ अपने सब कार्य, मंडन तक, छोड़ उसे देखने को दौड़ती हैं—

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बन्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ।।७, ६।।

जब वह खिड़की की ओर सहसा दौड़ी उसकी पुष्पमालायें खुल पड़ीं, बिखर गईं; केशपाश को बाँधने की भी उसने परवाह न की, उसे हाथ में पकड़े ही पकड़े वह आलोक मार्ग (खिड़की) की ओर भागी। (कुमार०, ७, ५७ में भी)।

इन्दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप—

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ।।८, ५३ ।।

अपनी स्वाभाविक महती धीरता को छोड़ राजा बाष्पगद्गद (आँसू बहाता, हिचकियाँ लेता) विलाप कर उठा। तपाये जाने पर लोहा तक जब अपनी कठोरता छोड़ पिघल जाता है, फिर दुर्बल शरीरधारियों की क्या बात? १८, ४३।

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ।।८, ४९ ।।

निःसन्देह, सुन्दर मुस्कराने वाली, मैं शठ हूँ, मेरा मिथ्या प्रेम (कपट) तुमने पहचाना, जभी तो मान कर मुझसे बिना एक शब्द कहे कभी न लौटने के अर्थ यहाँ से परलोक चली गईं!

शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम्।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥८, ५६ ॥

रजनी चन्द्रमा को फिर पा लेती है, चकवी भी अपने साथी चकवे को फिर पा लेती है। इस प्रकार उनका विरह सहनीय है। पर मैं कैसे सहूँ? तुम्हारा सदा के लिये चला जाना मुझे क्यों न संताप दे ?

गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥८, ६७ ॥

पत्नी, मंत्रिणी, एकान्त की सखी (मित्र), ललित कलाओं में मेरी प्रिय शिष्या (थीं तुम)। कहो न, इस दयाविहीन मृत्यु ने तुम्हें मुझसे छीन कर मेरा क्या नहीं हर लिया (क्या छोड़ा) ?

उसके पहले माला की चोट से मरती इन्दुमती का चित्र—

क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी ॥८, ३७ ॥

अपने सुन्दर स्तनों पर पड़ी माला को सखी की भाँति उसने क्षण भर निहारा, विह्वल हुई, फिर नेत्र बन्द कर लिये–तम से ढक लिए जाने पर चाँदनी की भाँति।

राजा के विलाप के समय वशिष्ठ का सान्त्वना-संवाद—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥८, ८७ ॥

शरीरधारियों का मरण ही स्वाभाविक है, जीवन तो विकृति (तत्वों का मूल से हट जाना) है। यदि जीव क्षण मात्र भी साँस ले सके (जी सके) तब भी वह (उतने का) लाभवान है।

कुमारसम्भव में तो प्रौढ़ और मार्मिक स्थल श्लोक-श्लोक में मिलते हैं। कामदेव को भस्म करते समय तीव्रता का दृश्य—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावग्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥३, ७२॥

अभी देवताओं की वाणी—हे प्रभो, समेटो! समेटो अपना क्रोध!—आकाश में गूँज ही रही थी कि शिव के नेत्रों से निकली आग ने मदन को भस्म कर डाला।

तीव्राभिषंगप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव॥३, ७३॥

दुःसह दुःख के आवेग ने रति को मूर्च्छित कर दिया जिससे उसकी इन्द्रियाँ स्तंभित (सुन्न) हो गईं। वह दुःख भी क्षण भर उपकारक ही हुआ क्योंकि रति को पति के निधन से उसने मुक्त रखा।

रति विलाप—

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते॥४, ७॥

"तुमने कभी मेरा अप्रिय नहीं किया, तुम्हारे प्रतिकूल मैंने भी कभी कुछ नहीं किया। फिर अकारण क्यों अपनी रोती हुई रति को दर्शन नहीं देते?" भाषा के प्रसाद ने प्रश्न की स्वाभाविकता असीम कर दी है।

उमा की तपस्या का वर्षा-काल में वर्णन है। शब्दों का चुनाव और उनका उपयोग अद्भुत हुआ है—भाषा वैसे ही रुक-रुक बढ़ती है, जैसे भाव अपेक्षित है—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥४, ४॥

"जल (वर्षा) की बूंदें पहले उस (उमा) की पलकों पर क्षण भर ठहरती हैं, फिर अधरों पर चोट करती हैं, फिर उन्नत

स्तनों के शिखर पर गिर कर चूर-चूर हो जाती हैं और तब उदर की रेखाओं की राह धीरे-धीरे नाभि में प्रविष्ट हो जाती हैं।" तपस्या में अधखुली आँखों का, कोमल अधरों का (जिन्हें तरल जलबिन्दु तक दुखा सकते हैं), कठोर कुचों का, गहरी नाभि का सांकेतिक वर्णन हुआ है।

तपस्या के बाद शिव जो अब तक उमा से ब्रह्मचारी के रूप में बात कर रहे थे, सहसा अपना प्रकृतरूप धारण कर लेते हैं, तब—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥५, ८५॥

"उस (शिव) को देखते ही काँपती हुई पतली स्निग्ध (सात्विक स्वेद से) छरहरी देह वाली उमा अन्यत्र डालने के लिए उठाये पैर को उठाये ही रह गई। मार्ग अवरुद्ध कर देने वाले पहाड़ के सामने आजाने पर आकुल नदी की भाँति गिरिजा न जा ही सकी न रुक ही सकी।" गति और संकोच का अनुपम उदाहरण है।

वह तप फला। शिव ने कहा—

अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः
क्रीतास्तयोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥५, ८६॥

"हे अवनतांगि (झुकी हुई, स्तन भार से), आज से मैं तुम्हारा दास हूं, तुम्हारे तप से ख़रीदा हुआ—चन्द्रमौलि शिव

के इस प्रकार कहते ही तत्काल तप का सारा क्लेश दूर हो गया। क्लेश की सफलता पहले का सा नयापन उत्पन्न कर देती है।"

नीचे के श्लोक में नववधू की स्वाभाविक लज्जा चित्रित है—

व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं परांमुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः।।८, २।।

शिव की बात का उत्तर नहीं देती, उनके वस्त्र पकड़ने पर भागने की इच्छा करती है, दूसरी ओर मुँह फेर शय्या से चिपट जाती है, पर उसकी ये चेष्टायें भी पिनाकी को प्रसन्न ही करती हैं।

एक और सुन्दर स्थल सातवें सर्ग का इस प्रकार है—

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः।।२२।।

जब अपनी लंबी आँखों से दर्पण में अपना भुवनमोहन रूप देखा तब वह त्वरित गति से शिव के पास जा पहुँची, क्योंकि नारी के वेष और मंडन का फल यही है कि उसका प्रिय उसे देख ले।

इस प्रकार क्या रघुवंश और क्या कुमारसम्भव कालिदास की सभी कृतियों में एक से एक सुन्दर स्थल हैं जिनकी तुलना नहीं की जा सकती। सदियों देश-विदेश के साधारण पाठकों ने, विज्ञ आलोचकों ने, कला-पारखियों ने इन ग्रन्थों का अध्ययन किया है और उनकी सौन्दर्यसत्ता उनके मर्म और मस्तिष्क पर छा गई है। प्रकृति के वर्णन में, सौन्दर्य के निरूपण में, उपमा और प्रसाद में, ध्वनि और काव्य की गेयता में, शब्दों के चयन और शैली की प्रौढ़ता में कालिदास की कहीं समता नहीं।

पाँचवाँ परिच्छेद

नाटक

कालिदास ने काव्य और नाटक दोनों समान कौशल से लिखे हैं। संसार में उनके अभिज्ञानशाकुन्तल की जितनी ख्याति हुई उतनी उनकी किसी अन्य रचना की नहीं। यूरोप में अनेक लोग ऐसे हैं जिनको कालिदास का नाम याद नहीं रह पाता, पर शाकुन्तल का रहता है। महाकवि के नाटकों में तो मर्म का जीवन और भी स्वाभाविक रीति से खुल पड़ा है।

सृजनशील कल्पना की समृद्धि, सुकुमार भावों की अभिव्यंजना, जीवन का सहज निरावरण इन नाटकों के वैभव हैं। सारे आवेग इनमें प्रदर्शित होते हैं पर सीमा कोई नहीं लाँघता। भावों में ग़ज़ब की सुकुमारता है पर दुर्बलता उनमें कहीं नहीं। रसों का इनमें अद्‌भुत प्रतिपादन हुआ है। प्रकृति कहीं मानवता से विलग नहीं हो पाती। पात्र प्रकृति से सर्वत्र सर्वदा घने संबन्ध से बँधे रहते हैं। तरु, लता, कुसुम, मृग, हंस, कोकिल, भृङ्ग के बीच पात्र जैसे उनका संबोधन करते हुए चलते घूमते हैं।

महाकवि के तीन नाटक जाने हुए हैं । मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी और अभिज्ञानशाकुन्तल। इनमें पहला उनकी प्रारंभिक कृति है। निश्चय यह नाटक भावों और शैली की प्रांजलता में शेष दोनों की ऊँचाई तक नहीं उठ सका है, परन्तु इसकी अपनी विशेषतायें हैं जिनकी चर्चा हम नीचे करेंगे।

१. मालविकाग्निमित्र

यह पाँच अंकों में लिखा नाटक है। शाकुन्तल या विक्रमोर्वशी की भाँति इसकी कथा दूर के, महाभारत या स्वर्गलोक के, पात्रों से सम्बन्ध नहीं रखती। इतिहास की कथा नाटक की कहानी है, निकट के इतिहास की ही। दृश्य राजप्रासाद के हैं, विदिशा नगरी के, जिसे नाटक देखने वाले कवि के जीवन-काल में भली प्रकार जानते होंगे।

मौर्य-वंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मार कर उसका पुरोहित और सेनापति पुष्यमित्र शुंग मगध की गद्दी पर बैठा था और भारत में उसने पहला ब्राह्मण राजवंश स्थापित किया था। नाटक का नायक उसी का पुत्र अग्निमित्र है, अधेड़ और दो-तीन रानियों वाला। पिता सम्राट् है दूर पाटलिपुत्र में, पर पुत्र कुल के मूल-स्थान विदिशा को केन्द्र बना साम्राज्य के दक्षिणी-पच्छिमी प्रान्तों पर शासन करता है। बाद में अग्निमित्र ही पिता के मरने पर साम्राज्य का स्वामी भी हुआ था। अभी वह उसका प्रतिनिधि शासक है यद्यपि उसकी उपाधि 'राजा' है और अपनी सीमा में उसे प्रायः स्वतंत्र शासन के सभी अधिकार प्राप्त हैं। वह युद्ध और सन्धि तक इच्छानुसार कर सकता है। कथानक दूसरी सदी ईसवी पूर्व के इतिहास से सम्बन्ध रखता है और उसके दृश्य विदिशा के राजमहल्ल में रखे गए हैं। नाटक का नायक राजा अग्निमित्र और नायिका मालविका विदर्भ राज की भगिनी है। उसमें उनके प्रेम की कहानी है। मालविका को उसकी असाधारण सुन्दरता के कारण अपने पति का स्वभाव जान कर रानी, जिसकी संरक्षा में वह रहती है, राजा की आँखों से दूर ही दूर रखती है। राजा का मालविका से मिलने के अनेक प्रयत्न अन्तःपुर के छोटे-

मोटे षड़यन्त्रों का रूप धारण कर लेते हैं। हरम रखने वाले राजाओं से सर्वथा भिन्न आचरण इस राजा का होता है। यद्यपि इस सुन्दरी के लिये राजा जितना ही प्रयास करता है रानी उतना ही उसमें विघ्न डालती है, पर इससे राजा किसी प्रकार का निरंकुश व्यवहार नहीं करता; रानियों के प्रति उसका नित्य का ललित सम्मानयुक्त व्यवहार बना रहता है। पीछे जब पता चलता है कि रानी की अनुचरी होती हुई भी मालविका वस्तुतः जन्म से राजकुमारी है और अभाग्य के उदय से उसने विदिशा के राजमहल में शरण ली है तब दोनों के सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं पड़ती और अग्निमित्र का मालविका से विवाह हो जाता है। मालविकाग्निमित्र का विदूषक कालिदास के सभी विदूषकों से अधिक कार्यकुशल और धूर्त है। शाकुन्तल और विक्रमोर्वशी के विदूषकों से कहीं अधिक कौशल का वह धनी है और उसका कार्य उनकी तरह केवल भोंडे और शिथिल आहार-सम्बन्धी परिहास कर राजा को प्रसन्न करना नहीं है बल्कि नायक का वह सही माने में सखा है और उसके षड्यन्त्र बड़ी कार्य-निपुणता से वह संपादित करता है। वस्तुतः राज प्रासाद की सारी षड्यंत्र-परम्परा उसी के केन्द्र से चलती है; उसी की उँगली से उसके सारे सूत बँधे हैं।

मालविकाग्निमित्र का कथानक अंक-विभाजन के अनुसार इस प्रकार है। पहले अंक में राजा विदर्भराज की धृष्टता पर नीतिशास्त्र के अनुसार उसे दण्ड देने के लिए सेना भेजता है और चित्रशाला में मालविका का सुन्दरतम चित्र देख कर चित्रगत पात्र के तद्वत् सौंदर्य में सन्देह करता है। दूसरे अंक में विदूषक की चतुराई की सहायता से राजकीय संगीत, अभिनय आदि के दो

आचार्यों—गणदास और हरदत्त—में संघर्ष छिड़ जाता है। कौन अधिकतर कुशल है यह जानने के लिए गणदास और हरदत्त के शिष्यों के नृत्य-प्रदर्शन करना निश्चित होता है। उस सम्बन्ध में संगीत-अभिनय के ऊपर शास्त्रीय कथोपकथन आचार्यों में होते हैं और उसके प्रदर्शन के निमित्त मालविका भाव-प्रदर्शन के लिए रंगमंच पर आती, है रानी धारिणी, परिब्राजिका, राजा आदि अभिनय देखते हैं। राजा अब कहता है कि चित्रकार ने तो चित्र में मालविका के सौन्दर्य के साथ न्याय ही नहीं किया, वह तो उससे कहीं अधिक सुन्दर है। चित्रकार तो वस्तुतः चित्र बनाते समय शिथिलसमाधि हो गया है। उसके बाद अगले अंकों में मालविका को प्राप्त करने के षड्यन्त्र चलते हैं। तीसरे अंक में मालविका सखियों सहित बगीचे में अशोक दोहद (नूपुर पहने पैर से अशोक की जड़ छूकर उसे पुष्पित करना) करने आती है। राजा भी विदूषक के साथ वहीं है। राजा और प्रेयसी अलग-अलग अपना विरह-वर्णन करते हैं। तभी राजा की दूसरी रानी इरावती पिये हुए आती है और इस भ्रम से कि दोनों प्रेमी वहाँ मिलते रहे हैं मान करती और मालविका को दंड देने का निश्चय करती है। राजा उसे समझाता है। मालविका सखी के साथ कारागार में डाल दी जाती है। अगले अंक में विदूषक बड़ी चालाकी से साँप काटने के बहाने रानी की सर्पचिन्हित अँगूठी लेकर और सन्तरियों को दिखा कर मालविका को छुड़ा कर प्रमदवन (नज़रबाग) में लाता है। राजा और मालविका वहाँ मिलते हैं। अन्तिम, पाँचवें, अंक में सेनापति (सम्राट् पुष्यमित्र का विरुद) का पत्र आता है जिससे मालूम होता है कि अग्निमित्र और धारिणी के पुत्र वसुमित्र अपने अश्वमेधदीक्षित पितामह पुष्यमित्र

के अश्व की रक्षा करता सिन्धुनद तक जा पहुँचा था और वहाँ उसने ग्रीकों को हरा कर देश से बाहर कर दिया। पहले तो रानी बहुत घबड़ाती है कि उसके ज़रा से लड़के को कितना ख़तरे का कार्य सौंपा गया है पर उसकी विजय की बात सुन कर प्रसन्न होती है। उधर मालविका की बात भी खुलती है कि वह विदर्भ की राजकन्या है जिसे राह में डाकुओं ने लूट लिया था। विजय की प्रसन्नता में रानी अग्निमित्र का मालविका से विवाह करा देती है। विदर्भ को उसके राजा दोनों भाइयों में बाँट कर अग्निमित्र वहाँ की राजनीति भी सम्हाल देता है। कथानक समाप्त हो जाता है।

इस नाटक में दो बातें विशेष महत्व की हैं। एक तो यह कि, जैसा अन्यत्र लिखा जा चुका है, कवि, भास आदि प्रसिद्ध नाटककारों की तुलना में अपना नाटक अधिक समर्थ मान कर, समीक्षकों को चुनौती देता है कि प्राचीन-अर्वाचीन के आधार पर नाटक को न जाँच उसके गुण-दोषों से उसे जाँचें। दूसरे इस नाटक का इतिहास-पक्ष बड़ा सबल है। भारतीय इतिहास के एक प्रसंग पर इसके यवन (ग्रीक)-सम्बन्धी उल्लेख से बड़ा प्रकाश पड़ा है। शुंगों का साम्राज्य सीमाप्रान्त के सिन्धुनद तक फैला हुआ था, पुष्यमित्र ने अश्वमेध किया जिसके अश्व की रक्षा करता उसके पोते वसुमित्र ने ग्रीकों को देश से बाहर निकाल दिया, आदि इस नाटक से जाने गये। पुष्यमित्र के अश्वमेध की बात तो उसके अभिलेख से भी ज्ञात थी पर मालविकाग्निमित्र से उसकी पुष्टि हो गई है।

२. विक्रमोर्वशी

बिक्रमोर्वशी और शाकुन्तल संस्कृत नाटक-क्षेत्र के सर्वोत्तम रोमैंटिक उदाहरण हैं। विक्रमोर्वशी पाँच अंकों का त्रोटक है। 'त्रोटक' पाँच, सात, आठ या नौ अंकों का होना चाहिये और उसमें घटनायें पार्थिव और स्वर्गीय दोनों होनी चाहियें। विक्रमोर्वशी का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है।

चन्द्रवंश का राजा ऐल पुरूरवा अप्सराओं से यह सुन कर कि उनकी सखी त्रिलोकसुन्दरी उर्वशी को असुर उठा ले गये हैं, जाता है और असुरों को परास्त कर उर्वशी को छीन लेता है। फिर उसे अपने रथ में बिठा कर राजधानी लाता है। राजा और उर्वशी दोनों एक दूसरे के प्रति अति मात्रा में अनुरक्त होते हैं। पर उर्वशी देवनारी है, इन्द्र के लोक में विचरने वाली उसकी प्रधान अप्सरा और उसका कर्तव्य इन्द्र के साहचर्य में है। इन्द्र का संदेश आने पर उसे स्वर्ग जाना पड़ता है और प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। पहले अंक की कथा समाप्त हो जाती है।

दूसरे अंक में राजा अतीव प्रेम विह्वल हो अपने प्रमदवन में घूमता है। उसका विचरण पग-पग पर उसकी विरहाकुल स्थिति को व्यक्त करता है। तभी उर्वशी थोड़ी देर के लिये प्रमदवन में सहसा आ जाती है। पुरूरवा की अपनी रानी भी है। उर्वशी अपने पत्र में राजा के प्रति अपना प्रेमोन्माद प्रकाशित करती है और वह पत्र रानी के हाथ में पड़ जाता है। रानी अप्रसन्न हो कर मान कर बैठती है और राजा के लाख मनाने पर भी नहीं मानती।

तीसरे अंक में भी उस मान की सविस्तार कथा चलती है

और राजा रानी को मना कर प्रसन्न करता है। उसके मानव्रत का मनोहर रूप मधुर गेय श्लोक में इस प्रकार कवि ने व्यक्त किया है—

सितांशुका मंगलमात्रभूषणा
पवित्रदूर्वांकुरलाञ्छितालका।
व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना
मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते॥

राजा कहता है कि "श्वेत वसन और सुहाग की रक्षा मात्र के लिये इने गिने आभूषण पहने, अलकों में पावन दूब के अंकुर धारण किये शरीर से व्रत समाप्त कर अभिमान छोड़ कर विराजती रानी मुझसे प्रसन्न दीखती है।" राजा रानी के निकट पहुँच कर उससे भी कहता है—

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं
व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम्।
प्रसादमाकांक्षति यस्तवोत्सुकः
स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते॥

"कल्याणि, इस कठिन (मान) व्रत से मृणाल (कमल तन्तु) कोमल अपने तन को अकारण गलाती हो। इस अपने प्रणयदास को जो तुम्हारी प्रसन्नता की कामना करता है (स्वयं प्रसन्न होकर) क्यों नहीं प्रसन्न करतीं?" शब्दों में बड़ी सुकुमार माधुरी भरी है। जभी तो रानी उत्तर में कहती भी है—'इस व्रत का ही तो यह प्रभाव है कि आर्य ऐसा कहते हैं!'

इसी बीच एक और घटना घट चुकी है। इन्द्रलोक में 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नाटक होता है जिसमें उर्वशी लक्ष्मी का अभिनय करती है। उसका मन अन्यत्र है, अपने प्रणयी पुरूरवा में लगा।

सो अभिनय के बीच जब उससे पूछा जाता है कि उसका हृदय किससे आसक्त है तब वह पुरुषोत्तम विष्णु का नाम लेने के बजाय पुरूरवा का नाम ले लेती है। परिणामस्वरूप नाटक बिगड़ जाने से उसके निर्देशक भरत को बड़ा क्रोध आता है और वह उसे शाप दे देते हैं। परन्तु इन्द्र उर्वशी को क्षमा कर उसे पुरूरवा के पास भेज देता है। उसका मृत्युलोक में रहना वह तब तक स्वीकार करता है जब तक उससे पुरूरवा को पुत्र न मिल जाय।

चौथे अंक में श्लोकों में बड़ी गेयता है। दोनों प्रेमी कैलास पर्वत की उपत्यका में विचर रहे हैं। उर्वशी सहसा कुमार-कानन में प्रवेश कर जाती है। देवकुमार के उद्यान में नारियों का प्रवेश वर्जित था, सो भरत मुनि का शाप फल जाता है और उर्वशी तत्काल लता बन जाती है। राजा विषाद के वशीभूत हो उसे सर्वत्र खोजता है। वाल्मीकि के राम की भाँति वह पक्षियों-पशुओं, पर्वतों तक से उर्वशी को पूछता है। और अन्त में नेपथ्य-वाणी सुनकर वह संगम-मणि प्राप्त करता है जिसके प्रसाद से उसकी उर्वशी उसे फिर मिलती है। उस संगम-मणि को लेते हुए राजा ने अत्यन्त सरल भाषा में मधुर वक्तव्य किया है—

तया वियुक्तस्य निमग्नमध्यया
भविष्यसि त्वं यदि संगमाय मे।
ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः
शिखामणिं बालमिवेन्दुमीश्वरः॥

"यदि उर्वशी से वियुक्त मेरा उससे तुम फिर संयोग करा दो तो मैं तुम्हें शिव के भालचन्द्र की भाँति अपने मस्तक पर धारण करूँगा।" तभी जब राजा निकट की लता को हृदय से भेंटता है वह उर्वशी बन जाती है और वह देखता है कि उसकी प्रिया उसके

अंक में बँधी है। इसके बाद कई वर्ष बीत जाने पर पाँचवें अंक की कथा रंगमंच पर अभिनीत होती है। उर्वशी के पुरूरवा से आयुष् नाम का एक पुत्र हुआ है जिसे उर्वशी ने चुपचाप ऋषि के आश्रम में रख दिया है। आश्रमविरुद्ध एक आचरण से बालक को नगर में रहने योग्य समझ मुनि उसे पिता के समीप भेज देते हैं। अब इन्द्र की व्यवस्था के अनुसार उर्वशी को देवलोक लौट जाना चाहिये। पर दैत्यों का संहार करने से पुरूरवा से प्रसन्न होकर देवराज उर्वशी को पुरूरवा को ही सौंप देता है और उर्वशी मृत्युलोक में ही राजा के साथ रहने लगती है। नाटक समाप्त हो जाता है

विक्रमोर्वशी का कथानक ऋग्वेद के उर्वशी और पुरूरवा-संवाद से लिया गया है, परन्तु कालिदास ने प्राचीन कथा में काफ़ी परिवर्तन कर दिया है। उसके चौथे अंक में कुछ अपभ्रंश के गेय छन्द हैं जिनके राग भी उनके साथ ही छपे मिलते हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि संभवतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

३. अभिज्ञानशाकुन्तल

अभिज्ञानशाकुन्तल कालिदास की अत्यन्त प्रौढ़ कृति और संस्कृत साहित्य का सुन्दरतम रत्न है। युग-प्रवर्तक जर्मन कवि गेटे इसका अनुवाद पढ़कर दीवाना हो गया था। उसने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। उसके 'फ़ास्ट' पर भी इस नाटक का प्रभाव पड़ा।

शाकुन्तल की कथा महाभारत के प्रथम पर्व से ली गई है। पर उसमें भी, विशेष कर उसके नायक के चरित्र-चित्रण में, उसने पर्याप्त अन्तर डाल दिया है। यह सात अंकों में समाप्त 'नाटक'

है। नाटक पाँच से दस अंकों तक का होना चाहिये। उसकी कथा प्राचीन इतिहास या पुराण-प्रसिद्ध होनी चाहिये, नायक उदात्त होना चाहिये। और उदात्त उन्नत भावों का भले प्रकार प्रस्फुटन होना चाहिये। शाकुन्तल उस दिशा में अनुपम आदर्श प्रस्तुत करता है। संक्षेप में उसकी कथा इस प्रकार है।

नाटक अत्यन्त शक्तिम प्रार्थना से प्रारंभ होता है। नटी के गायन के पश्चात् हस्तिनापुर का पुरुवंशी राजा दुष्यन्त रथ पर चढ़ा आखेट करता आता है। रथ छोड़ वह आश्रम में प्रवेश करता है। महर्षि कण्व नहीं हैं पर अतिथियों के सत्कार का भार उनकी पालिता (विश्वामित्र और अप्सरा मेनका की) कन्या शकुन्तला के ऊपर है। शकुन्तला को देखते ही राजा उस पर आसक्त हो जाता है। घर पर उसके कई रानियाँ हैं पर इस रूप की चोट वह सह नहीं सकता। शकुन्तला भी उसे देख कर उस पर मुग्ध हो जाती है। पहला अंक समाप्त हो जाता है।

दूसरे अंक में राजा का विदूषक मित्र माढव्य अपनी खिन्नता प्रगट करता है। राजा के प्रणय और अहेर के मारे वह परेशान है। जंगल का जीवन उसे पसन्द नहीं है जहाँ बन-बन पशुओं के पीछे भागना पड़ता है और तीसरे पहर कहीं शूल पर भुना हुआ सुअर का मांस खाने को मिलता है। वह हस्तिनापुर लौट जाना चाहता है।

तीसरे अंक में शकुन्तला प्रणय-ताप से विह्वल है। कुंज में पुष्पशय्या पर पड़ी है जहाँ सखियाँ विविध साधनों और उपचारों से उसके ताप का मान घटाने और शीतलता प्रदान करने का प्रयत्न करती हैं। राजा वहाँ जाकर अपना भी प्रणय प्रगट करता है और शकुन्तला के साथ गांधर्व विवाह करता है। फिर उसे

अपनी अँगूठी दे आश्रम से कुछ काल बाद आदमी भेजकर बुलवा लेने का आश्वासन दे हस्तिनापुर चला जाता है। इधर शकुन्तला का विरह उसे विह्वल कर देता है और वह अपनी सुध-बुध खो बैठती है।

उसी स्थिति में चौथे अंक का विष्कम्भक आरंभ होता है। सुध-बुध खोई स्थिति में ही दुर्वासा आते हैं और शकुन्तला को सब कुछ से, उनके आतिथ्य से भी, विरत और उदासीन देख अपना अपमान समझ उसे शाप दे देते हैं कि उसका प्रिय उसे नहीं पहचानेगा। सखियों के अनुनय-विनय से अन्त में अपना शाप नरम करते हुए ऋषि कहता है कि राजा की दी हुई अँगूठी दिखाने पर राजा उसे फिर पहचानने लगेगा। कण्व लौटकर जब शकुन्तला और राजा दुष्यन्त के गांधर्व विवाह की बात सुनते हैं तो प्रसन्न होते हैं। राजा की ओर से किसी के न आने पर वे स्वयं गौतमी और ऋषिकुमार शारद्वत और शार्ङ्गरव के साथ शकुन्तला को हस्तिनापुर भेज देते हैं। उस समय की बिदा बड़ी हृदयग्राहिणी है। शकुन्तला अपनी सखियों प्रियंवदा और अनुसूया से, शुक-सारिका और मृगों से, तरु-लताओं तक से, पिता और सभी आश्रमवासियों से अत्यन्त कातर हो विदा लेती है। वस्तुतः यह विदा का दृश्य अत्यन्त मार्मिक है। उस अवसर पर गृहस्थ के सिर से कन्या का भार उतरने और पिता के उससे बिछुड़ने की व्यथा दोनों का अपूर्व वर्णन हुआ है। इसी से चौथे अंक की महिमा समीक्षकों और काव्य-मर्मज्ञों ने मुक्त कंठ से स्वीकार की है।

पाँचवाँ सर्ग भी अत्यन्त करुण है पर दूसरे रूप में। ऋषि-कुमार जब हस्तिनापुर शकुन्तला को लेकर दरबार में पहुँचते हैं

तब राजा दुर्वासा के शाप के कारण किसी प्रकार उसे नहीं पहचान पाता और बड़ी शिष्टता से कह देता है कि जिस गर्भवती नारी को हम नहीं जानते उसे घर में रखने में हमें आपत्ति है। इस पर ऋषिकुमार और गौतमी शकुन्तला को वहीं छोड़ कर चले जाते हैं। पुरोहित अपने यहाँ उसे पुत्रोत्पत्ति तक रखने को तैयार है पर शकुन्तला अभिमानपूर्वक उसे त्याग बाहर निकल जाती है और उसकी माँ उसे मरीचि के आश्रम में पहुँचा देती है।

इसके बाद विष्कम्भक में सिपाही उस धीवर को लेकर राजा के पास जाते हैं जिसके पास राजा के नाम से अंकित अँगूठी है। इसी अँगूठी के खो जाने के कारण यह सब उपद्रव हुआ था क्योंकि ऋषिकुमारों के कहने पर शकुन्तला पहचान के लिये राजा को उसकी अँगूठी नहीं दिखा सकी थी। राह में ही नदी में स्नान करते समय वह जल में गिर गई थी और उसे एक मछली ने निगल लिया था। वही मछली धीवर के जाल में फँस गई थी और अँगूठी उसे मिल गई थी। राजा को अँगूठी देखते ही सारा पूर्व वृत्तान्त याद आ गया। आगे के दो अंकों में उसके उसी विरहजनित अवसाद का अनेकतः वर्णन है। तभी इन्द्र का सारथी उसे दैत्यों को हराने के लिये देवराज के बुलाने पर रथ लिये आता है। सातवें अंक में राजा दैत्यों को परास्त कर जब आकाश मार्ग से लौटता है तब हेमकूट पर उतरकर मरीचि के आश्रम में जाता है और वहाँ मलिनवसना व्रत किये हुए शकुन्तला को देखता है। उसका पुत्र भरत भी वहीं अनेक प्रकार के खेल करता है। राजा अपना अपराध स्वीकार करता है और दोनों का संयोग हो जाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल का एक नैतिक रहस्य भी है। उस

दृष्टि से दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों दोषी हैं और दोनों का दण्ड हो चुकने पर उनको शान्ति मिलती है और नाटक का उद्देश्य पूरा होता है। दुष्यन्त राजा है। कालिदास के छः ग्रन्थों में बीसों स्थलों पर राजा को वर्ण और आश्रम धर्मों का 'गोप्ता' (रक्षक) कहा गया है। वह 'वर्णाश्रमाणां रक्षिता' है, वर्णाश्रमों के रक्षण-कर्म में अनवरत 'जागरूक' है। वर्णाश्रम धर्म की सीमा का जब-जब कोई पात्र उल्लंघन करता है तब-तब महाकवि की क्षुब्ध लेखनी उस पर आग उगलने लगती है, चाहे ऐसा पात्र राजा अथवा 'तपस्विसुत' ही क्यों न हो। कालिदास के विचार में सामाजिक व्यवस्था को मान-कर उसपर 'नेमिवृत्ति' से आचरण न करनेवाला व्यक्ति वह पापी है जो नियन्ता द्वारा प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था का विरोध करता है। शासन और सामाजिक व्यवस्था मनुष्यों ने कैसे प्राप्त की थी? एकमत होकर सारे देवताओं ने ब्रह्मा से एक ऐसा व्यक्ति माँगा जो शासन और दंडनीति द्वारा समाज का नियंत्रण कर सके, उसमें होनेवाले अपचार के कारणों को दंड की आग में चला सके। फलस्वरूप मनु मिले जिन्होंने मानव जाति को सर्वप्रथम समाज और शासन की व्यवस्था दी। उस व्यवस्था को, जिसकी मनुष्यों ने स्वयं याचना की थी, भंग करना याचकों के लिये अत्यन्त गर्हित था। जो ऐसा करने का साहस करेगा वह कितना साहसिक होगा? उसका दमन आवश्यक है। ऐसे ही व्यवस्था-भंजकों के दमनार्थ जब राजधर्म का सृजन हुआ है तब राजा वर्णाश्रम के अन्वीक्षण में सतत जागरूक क्यों न हो? इसी कारण जब-जब वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा हुई है तब-तब कालिदास ने राजा को उसके रक्षण-धर्म की याद दिलायी है। अभिज्ञानशाकुन्तल उसी रक्षण-

धर्म का एक सर्वांगपूर्ण उदाहरण है। समूचा नाटक एक स्रोत है जिसके पूर्वभाग का संबंध वर्णाश्रम-धर्म की क्षति से और उत्तर भाग का उसके दंड से है। उसकी उद्देश्यपरकता यह सिद्ध करने में है कि समाज की व्यवस्था तोड़नेवाला चाहे समर्थ राजा, चाहे तपस्वी ऋषि की सुकुमारी कन्या ही क्यों न हो, उस पर दंड-विधान का चक्र निश्चय प्रवृत्त होगा क्योंकि वह चक्र व्यक्तित्व की अपेक्षा नहीं करता। सब पर समान रूप से चलता है।

दुष्यन्त मृगया करता हुआ कण्वाश्रम में पहुँचता है। कुल-पति नहीं हैं। परन्तु आश्रम के आचार की रक्षा के लिये अनेक तपस्वी हैं, और ऋषिकन्या शकुन्तला अतिथिसत्कार के लिये विशेष प्रकार से नियुक्त है। अतिथि का आचरण करनेवाला दुष्यन्त इस कन्या द्वारा की गई पूजा सभी प्रकार से स्वीकार करता है। अर्घ्यादि प्रदान करने के साथ ही आश्रमवासिनी सरला कन्या अपना सर्वस्व अर्पण कर बैठती है। प्रेम का संचार पहले दुष्यन्त के हृदय में ही होता है और उसकी वृत्ति चोर की-सी हो जाती है। साधारण ग्राम्य-रूप उसके प्रेम का नहीं दीखता, बल्कि लुका-छुपा नागर प्रेम का प्रत्यक्षीकरण होता है। ग्राम्य प्रेम खरा और निश्छल होता है, नागर प्रच्छन्न और मिश्रित। ग्राम्य प्रेम का अन्त प्राजापत्य विवाह में होता है, नागर का प्रायः गान्धर्व में। नागर प्रेम से ओत-प्रोत दुष्यन्त शकुन्तला के शरीर-गठन की कमनीयता को चोर की भाँति छिपकर वृक्ष की ओट से देखता है। शकुन्तला भी जब दुष्यन्त को देखती है, उसी की हो जाती है। दोष किसका है? दुष्यन्त का या शकुन्तला का? क्या यह दोष है भी? मनुष्य जहाँ होते हैं वहीं उनकी दुर्बलतायें भी होती हैं। फिर भी परम्परा के अनुसार तपोभूमि विराग का

स्थल है, केलि का कानन नहीं। सांसारिक सुखों का आस्वादन समाप्त कर चुकने पर मनुष्य वहाँ जाता है। यह आश्रम वह स्थल है जहाँ शम, दम, नियमादि का पालन होता है। यदि वहाँ भी सांसारिक इन्द्रियलोलुपता घर कर ले तब आश्रम का उद्देश्य नष्ट हो गया। इसी कारण 'वेतस निकुंज' के गांधर्व प्रेम के अनन्तर अनुसूया घबड़ा उठती है—आश्रम के नियमों पर वरुण की भाँति दृष्टि रखनेवाले कुलपति कण्व के आने पर यह अनाचार की बात कैसे कही जायेगी? इस पाप की जघन्यता स्वयं शकुन्तला क्या नहीं समझती? व्यवहारमात्र को देख-देख आज इस ह्रास के युग में भी जब बिना सावधान किये ब्राह्मण का पाँच वर्ष का बालक यह जानता है कि जूठे हाथों घड़ा नहीं छूना चाहिये, बिना पाँव धोये चौके में नहीं जाना चाहिये, तब क्या तपोधनी कण्व की कन्या आचार-पूत आश्रम में आजन्म रह कर भी, नित्यप्रति संपादित होनेवाले क्रिया-प्रबन्धादिकों को देख कर भी, उचित-अनुचित नहीं समझती? वह कला जानती है, प्रणय की पीड़ा पहचानती है, अनुकूल आकर्षण की प्रेरणा से उसे सात्विक स्वेद और रोमांच हो आते हैं, खुले दरबार में शास्त्रों में अकुण्ठिताबुद्धि रखनेवाले अप्रतिरथ सम्राट् की वह उसके अनौचित्य पर भर्त्सना कर सकती है, फिर उसे क्या इतना भी बोध नहीं कि गांधर्व विवाह आश्रम की भूमि के उपयुक्त नहीं? इतना होने पर भी उसने अनाचार पर कमर कसी। अपना तो सर्वस्व उसने दे ही डाला, प्रधान कर्तव्य भी वह भूल गई। पिता कण्व ने उसे अतिथि-सेवा में नियुक्त किया था परन्तु प्रेम-वारुणी का पान कर वह अपनी सुध-बुध इस तरह खो बैठी कि उसे अपने धर्म का ज्ञान न रह गया। जब शरीरधारी ब्रह्मचर्य मानो दुर्वासा

के रूप में आश्रम में उपस्थित होता है, तब भी वह सुन्न है। अतिथिसत्कार वह भूल गई है। दुर्वासा के आगमन के समय शकुन्तला दुष्यन्त के विरह में तप रही है। उसे अन्य किसी विषय का भान नहीं। परम तेजस्वी रुद्ररूप दुर्वासा के पधारने का उसे किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं। कुमारसम्भव में उमा भी शिव को पति-रूप में पाने के लिये तपश्चरण करती है। कवि उसका वर्णन करता है—

> **मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमंगं ग्लपयन्त्यहर्निशम्।**
> **तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा॥**

उसमें दुर्वासा की भाँति ब्रह्मचर्य शिव के रूप में ब्राह्मण का वेश धारण कर उमा के समक्ष जाता है। उमा की यही परीक्षा है पर वह उसमें पूर्णतया सफल होती है। उसके 'स्फुरत्प्रभामण्डल' में कोई विकार नहीं होता। कठिन तपस्या के पश्चात् भी वह अपने को भुलाती नहीं, अपने आश्रम को पहचानती है। पर वहीं ब्रह्मचर्य जब शकुन्तला के पास जाता है तब वह उसे नहीं पहचान पाती। पार्वती तो पति ही की चिन्ता में थी, उसे प्रेम का व्यवहार ज्ञात था। यदि कहीं उसका पतन हुआ होता तो वह क्षम्य होता, क्योंकि उसने तो जानबूझकर उस मार्ग में पग रखा था। परन्तु शकुन्तला ने तो वह रूप कभी जाना ही न था। सदा आश्रम में रहनेवाली कन्या का अपने पद की रक्षा न करते हुए आश्रम-वृत्ति के विरुद्ध आचरण क्योंकर क्षम्य हो सकता था? यदि शकुन्तला ने मर्यादा का उल्लंघन न किया होता तो बहुत संभव था कि परीक्षक ब्रह्मचर्य दुर्वासा का रूप छोड़ दुष्यन्त बन जाता, परन्तु वहाँ तो स्वयं ब्रह्मचर्य को आश्चर्य हो रहा था। युगान्त तक कण्व सरीखे महात्मा द्वारा दीक्षिता कन्या भी अपचार का एक झोंका

न सह सके, कैसे अनर्थ की बात है ? ब्रह्मचर्य बारह वर्ष से अधिक काल तक उस कन्या का उस पुनीत आश्रम में शरीर और चरित्र का गठन करता रहा था, परन्तु दुष्यन्त के दर्शनमात्र ने उसके शरीर में यह कौन-सी बिजली दौड़ा दी जिससे उस क्षणिक संबंधी दुष्यन्त के सम्मुख इस चिर-परिचित ब्रह्मचर्य को भी शकुन्तला ने ठुकरा दिया ? ब्रह्मचर्य क्षुब्ध हो उठा, कालिदास की धर्मभीरु आत्मा काँप उठी, दुर्वासा का रुद्ररूप व्यक्त हो पुकार उठा——

आः अतिथिपरिभाविनि,

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि स-
न्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥

ब्रह्मचर्य का प्रमाणतः धीरज छूट गया था। जहाँ शकुन्तला को आश्रम की निवासिनी होने के कारण ब्रह्मचर्य को सदा आश्रय देना चाहिये था, वहाँ उसकी प्रतिष्ठा तो दूर रही उसके स्वयं आकर उपस्थित होने पर भी वह उसकी उपेक्षा करती है। चिल्लाकर वह कहता है कि मेरा धन तप है, मैं तपोभूमि का धन हूँ, तुम मेरे राज्य की प्रजा हो, तुम्हें बराबर मेरी पूजा करनी चाहिये, क्योंकि मेरे ही भीतर अपनी स्थिति रखने की तुमने दीक्षा ली है, सो स्वयं तो तुम मेरी प्रतिष्ठा क्या रखोगी मेरे स्वयं आकर उपस्थित होने पर भी (उपस्थितं अपि न वेत्सि !) मेरा तिरस्कार करती हो। मैं स्वयं उपस्थित होकर तुम्हें अपनी सत्ता का बोध कराता हूँ, फिर भी तुम अपनी अवस्था पर, अपने स्खलन पर आश्चर्य नहीं करतीं। इसलिये जिसकी चिन्ता में तुम इस समय

रत हो वह स्मरण कराने पर भी तुमको नहीं पहचानेगा, जैसे तुम मुझे नहीं पहचान रही हो। पर शकुन्तला ने सोचा—वह क्या चीज़ है? मैंने जहाँ अवगुंठन हटा अपना यह नयनाभिराम भुवनमोहन रूप दिखाया, लुभ जायेगा, चुंबक-सा खिच आयेगा। परन्तु यह क्या? वहाँ तो वह व्यवस्थापक के रूप में 'धर्मासिन' से तिरस्कार पूर्वक निषेधकर उठा—

भोस्तपोधनाः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्या स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मनं क्षेत्रिणमाशंकमानः प्रतिपत्स्ये।

नारी का अपमान इससे अधिक और क्या हो सकता है, इससे बड़ा उसको दंड क्या है कि वह खुले दरबार में 'व्यवहारासन' पर बैठे राजा-पति द्वारा तिरस्कृत हो! 'अभिव्यक्तसत्वलक्षणा' होती हुई भी, उसकी ओर इंगित करती हुई भी वह ठुकरा दी जाय। शकुन्तला इस दुःख से जर्जर हो उठती है, फिर जब तप से तप कर वह शुद्ध होती है तब कहीं दुष्यन्त उसे प्राप्त होता है। तप से तपने के लिये वह कण्व के आश्रम में नहीं जा सकती क्योंकि वह जीवन का पूर्व काण्ड है, ब्रह्मचर्य का। उसका उत्तर काण्ड तो मरीचि के आश्रम में, काश्यप के आलोचनात्मक नेत्रों के नीचे है। वह वाणप्रस्थाश्रम है जहाँ के प्रशान्त वातावरण में शकुन्तला का पुत्र ही अकेला शैशव के शब्दों का उच्चारण करता है। वहाँ वास करती हुई शकुन्तला से उसका उपहास करता हुआ वाण-प्रस्थ नित्य पूछता होगा?—"अप्रौढ़े, तेरा गार्हस्थ्य कहाँ है?" गार्हस्थ्य तो शकुन्तला ने खो दिया था। ब्रह्मचर्य व्रत-भंजन के साथ ही उसका भी नाश हो चुका था। फिर वह उसे क्योंकर सुखी कर सकता? ब्रह्मचर्य का सहज और स्वाभाविक अन्त गार्हस्थ्य में होता है, गार्हस्थ्य का वाणप्रस्थ में, और वाणप्रस्थ

का संन्यास में। जिसकी नींव ही बिगड़ जाय उसके अगले आश्रमों की अट्टालिका भला किस पर खड़ी हो ? इस आश्रम में नित्य शकुन्तला को ग्लानि होती होगी। काश्यप नित्य उसे पातिव्रत का उपदेश करते हैं। एक-एक उपदेश देह धारण कर जैसे शकुन्तला से पूछता होगा—'तेरा पति कहाँ है ? यह तेरा पुत्र कैसा ? तू स्वीकृता है या परित्यक्ता ?' उसका दण्ड कितना भीषण है, कोई शकुन्तला से पूछे !

राजसभा में औरों के साथ स्वयं शकुन्तला भी राजा को धिक्कारती है, उससे झगड़ती है, पर एकबार भी यह नहीं कहती कि जिस दोष को व्यवस्थापक और परिपालक राजा होकर तुमने स्वयं किया उसका दण्ड तुम मुझे किस अधिकार से दे सकते हो ? कालिदास साधारण कवि नहीं हैं। दुष्यन्त राजा आज है, जब वह शकुन्तला को व्यवस्था तोड़ने के अपराध में दंडित कर रहा है, चाहे वह उसकी प्रेयसी ही क्यों न हो। जिस समय स्वयं दुष्यन्त ने कण्व के आश्रम में व्यवस्था भंग की थी उस समय वह राजा नहीं था, साधारण प्रेमीमात्र था। कम से कम शकुन्तला उसे साधारण 'तपोवनधर्म की रक्षा में नियुक्त राजपुरुष' (राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ) मात्र ही जानकर स्वीकार करती है। इस लिये उसे क्या अधिकार है जो वह चुनौती पूर्वक राजा से कह सके कि जब स्वयं राजा (जो 'वर्णाश्रमाणां रक्षिता' है) होकर तुमने वही अनर्थ किया तब एक ही पाप के भागी दोनों में से एक दण्ड घोषित करे और दूसरा उसे भोगे यह कैसा न्याय है ? पर नहीं दुष्यन्त अब प्रेमी नहीं है। वह केवल राजा है, और कुछ नहीं। वह उस आसन पर शासन की बागडोर धारण किये दण्ड-निग्रह के अर्थ बैठा है जिसे कालिदास ने कहीं

'धर्मासन', कहीं 'कार्यासन' कहीं 'व्यवहारासन' कहा है। उस आसन के साथी न्याय और दण्ड हैं, पत्नी और प्रेयसी नहीं। शकुन्तला का दण्ड हो चुका।

अब दुष्यन्त। उसका दण्ड और भी कठोर है। यद्यपि वह साधारण नागरिक की हैसियत से प्रेम करता है और अपने उत्तरदायित्व को कम करने के लिये अपने को साधारण राजपुरुष घोषित करता है, परन्तु नियति का नियामक उसे पहचानता है। व्यवस्था दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों ने तोड़ी है, दोनों ने समान अपराध किया है, दण्ड दोनों को मिलेगा। शकुन्तला को मिल चुका, पर दुष्यन्त को दण्ड दे कौन ? उससे बड़ा कौन है ? मनुष्य तो उसे दण्ड दे नहीं सकता, क्योंकि राजा 'सर्वातिरिक्तसार' विशेष व्यक्ति है, सर्वतेजोमय है, पृथ्वी के सारे सत्वों को मेरु की भाँति आक्रान्त कर, वह उनपर शासन करता है—

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना॥ रघु० १, १४॥

वह देवताओं का अंश है। जब दिलीप की रानी सुदक्षिणा गर्भ धारण करती है तब उसके गर्भ में सारे लोकपाल प्रवेश करते हैं—

नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्तराज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्ठं लोकपालानुभावैः॥ रघु० २, ७५॥

सो इन्द्रादि देवताओं के अंशरूप, अथर्ववेद और ऐतरेयब्राह्मण के मंत्रों से अभिषिक्त, शासन-शपथ के धनी कालिदास के इस राजा को भला मानव-रूप में कौन दण्ड दे सकता है ? उसे स्वयं वही दण्ड देगा। नियति स्वयं उस पर अपना शासन-चक्र रखेगी।

उसके शरीर में देवताओं का निवास है। सब मिल कर उसे दंड देंगे।

छठे अंक के आरम्भ में नागरिक शकुन्तला को दी हुई अँगूठी दुष्यन्त के पास ले जाता है। राजा के नेत्र अँगूठी देख कर भर आते हैं। यदि कोई साधारण कलाकार होता तो राजा को विक्षिप्त बना देता। परन्तु कालिदास का राजा अपने गहरे दुःख की स्मृति में भी राजधर्म का संपादन करता है, और अन्यत्र कुछ समय जब प्रथम बार उसका कंठ खुलता है, तब उसकी दीन दशा का बोध करानेवाली उस करुण वाणी का सृजन होता है जो कभी किसी प्रायश्चित्ती ने न कही होगी—

प्रथमं सारंगाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम्॥

"अभागे हृदय, जब मृगनयनी प्रिया ने पहले आकर बार-बार जगाया तब तो तुम सोते रहे, और जब यह एकान्तिक दुःख ठुकरा रहा है तब (उसकी गहराई समझने के लिये) जग उठे हो !"

दंड का आरंभ हो चुका है। इसकी कठोरता और निर्ममता यदि किसी को देखनी हो तो वह छठे और सातवें अंकों में दुष्यन्त को देखे। वहाँ उसके दंड और प्रायश्चित्त का सूक्ष्म दर्शन हो सकता है। उसका हृदय दुःखातिरेक से जाग उठा है, वही जो प्रिया की कोमल स्मृति के आघातों तक से नहीं जागा था। दुर्वासा के रूप में ब्रह्मचर्य ने भी यही कहा था—तुम स्वयं मेरी मर्यादा क्या रखोगी, मद्यपी की नाई आचरण करती हो, मुझ स्वयं आये हुये को देखकर भी औचित्य नहीं पालतीं, इस लिये बारंबार स्मरण कराने पर भी तुम्हारा प्रेमी तुम्हें नहीं पहचानेगा।

शकुन्तला के पक्ष में तो यह शाप पूरा उतरा, परन्तु क्या दुष्यन्त के पक्ष में भी सत्य सिद्ध हुआ ? हाँ, उसे शकुन्तला ने बारंबार याद दिलाया—'चेतो, पहचानो मुझे, मुझ वेतसनिकुंज वाली को !' कितने अवसाद का स्थल है कि प्रेयसी अपना संकेतस्थान तक बता देती है, परन्तु दुष्यन्त का हृदय फिर भी नहीं जागता। दुष्यन्त की ओर से आश्रम की व्यवस्था कहाँ रक्षित हुई थी ? उसने यद्यपि अपने को राजा नहीं बताया पर आश्रमों की रक्षा में नियुक्त राजपुरुष तो बताया ही था। ऐसी अवस्था में भी उसने कौन-सा कम पाप किया ? अब वह क्या करे ? दुःखावेग निरन्तर बढ़ता जाता है और उसकी पराकाष्ठा तब होती है जब वह इन्द्रलोक से लौटकर मरीचि के आश्रम में जाता है और वहाँ अपने तनय सर्वदमन को गोद में लेता है। माँ के आने पर बालक उससे पूछता है—'माँ, भला यह कौन है ?' दुःख की मारी परित्यक्ता पत्नी, समाज की व्यवस्था का उल्लंघन और उसके भयंकर दण्ड का स्मरण कर पुत्र से कहती है—'ते भागधेयानि पृच्छ'—तू अपने भाग्य से पूछ ! बेटा अपने भाग्य से क्या पूछे ? उसका भाग्य कहाँ है ? किसने उसका सृजन किया ? उसके इस भाग्य का, जिसके फलस्वरूप उसका पिता व्यवहारासन से—न्याय की कुर्सी से—न्यायालय में चिल्ला कर कहता है—तुम मेरे नहीं हो, उस भाग्य का स्रष्टा कौन है ? शकुन्तला और दुष्यन्त का अपावन प्रेम। वह प्रेम जिसने ऋषि-प्रणीत पवित्र अनुशासन की उपेक्षा करके आश्रम की व्यवस्था भंग की। 'ते भागधेयानि पृच्छ' ही अभिज्ञानशाकुन्तल की कुंजी है जिससे इस रहस्य की पेटी खुलती है। सारे दुःखों को समेट कर शकुन्तला ने इस वाक्य का उच्चारण

किया है। कालिदास की कला ने इस व्यंग्य में अकथनीय मार्मिक चोट भर दी है। एक बार दुष्यन्त की सारी शक्ति क्षीण हो गई, शक्ति जो दुर्जय असुरों का अभी-अभी संहार कर विजयिनी हुई थी। उसके लिये स्थिति अब असह्य हो उठती है। आश्रम में प्रवेश करते ही उसने शकुन्तला को विरह-व्रत धारण किये देखा था और उसे बड़ी ग्लानि हुई थी। क्या वेश था तब शकुन्तला का, और क्या बीती थी दुष्यन्त पर ?—

वसने परिधूसरे वसाना
नियमक्षाममुखी धृतैक वेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला
मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति॥

"धूलभरे (मैले) वसन पहने हुए है, एक वेणी धारण किये हुए है, नियम की परुषता से (मंडन के साधनों के अभाव में) रूखे मुखवाली हो गई है। और वह शुद्ध स्वभाव वाली मुझ अत्यन्त निठुर का विरहव्रत धारण किये हुए है।" यह श्लोक प्रायः उसी स्थिति को व्यक्त करता है जिसे मानिनी रानी को देख-कर राजा पुरूरवा का वक्तव्य (जिसे अन्यत्र उद्धृत कर आये हैं) व्यक्त करता है, यद्यपि एक इनमें अत्यन्त दुःख अन्याय के परिणाम स्वरूप है दूसरी ईर्ष्या से प्रसूत। विक्रमोर्वशी की रानी को फिर भी विश्वास था, जैसा उसने राजा से उत्तर में कहा भी, कि उसी मान-व्रत का यह परिणाम था कि राजा उससे वैसा पिघल कर बोला। निःसन्देह इस शकुन्तला के व्रत और नियम-परुषता का ही यह परिणाम था कि दुष्यन्त के मुँह से यह अतीव करुण—'वसने परिधूसरे वसाना'— श्लोक निकला। और जब अपनी सारी व्यथा और व्यंग्य संघात-रूप में एकत्र कर शकुन्तला पुत्र के 'यह

कौन है ?' प्रश्न के उत्तर में कह उठती है—ते भागधेयानि पृच्छ ! (अपने भाग्य से पूछ !)—तब तो सचमुच दुष्यन्त का जीवन दूभर हो जाता है। वह शकुन्तला के चरणों पर गिर जाता है। वह उसे उठाकर गले से लगा लेती है। दोनों ओर से आँसुओं की धारायें निकल कर प्रायश्चित्त रूप में उनके पापों के ऊपर बह जाती हैं। इस दण्डरूप भट्ठी में जलकर जब उनका पाप भस्म हो जाता है, तब पुत्ररूपी राग उत्पन्न होकर उनके हृदयों के घावों को दोनों ओर बैठ कर भर देता है। शकुन्तला और दुष्यन्त अपना गार्हस्थ्य, जो सारे आश्रमों का आधार है, नये सिरे से प्रतिष्ठित करते हैं।

यह है शाकुन्तल की नैतिक उद्देश्यपरक नाटचता, अत्यन्त करुण, निष्ठाजन्य, अभिराम, जिसमें शिव और सुन्दर समान रूप से व्यवस्थित हैं। संसार की कोई कृति इतनी मधुर इतनी सुकुमार, इतनी शालीन नहीं।

छठा परिच्छेद

शैली

कालिदास की महान् विशेषता जिसने उस महाकवि को कवियों की मूर्धा पर बिठा दिया है और जो संस्कृत साहित्य भर में अपना अलग रङ्ग रखती है उसकी काव्य-शैली की एकान्त स्वच्छता और सुरुचि है। दण्डी ने काव्य के जो श्लेष, प्रसाद, समता आदि दस गुण बताये हैं कालिदास की कविता में वे दसों गुण एकत्र मिल जाते हैं। संस्कृत का कोई दूसरा कवि नहीं जिसमें भाषा पर वह अधिकार हो जो इस कवि में है, स्वच्छ जल की तरह निर्मल अविरल धारा, सरल और साथ ही शालीन।

कालिदास के सारे काव्य वैदर्भी शैली में लिखे गये हैं, छोटे-छोटे शब्दों में, असमस्त पदों में। उनके श्लोकों में सहज गेयता और अपूर्व कोमलता है। अलंकारों के जो प्रयोग उस कवि ने किये हैं उनसे औरों की भाँति उसकी भारती बोझिल नहीं होती बल्कि अर्थव्यक्ति से काव्य में असाधारण शक्ति आ जाती है। उसके बराबर उपमा अलंकार का उपयोग करनेवाला दूसरा कवि नहीं हुआ। भाव और भाषा अनायास लेखनी से जैसे टपकते जाते हैं, कहीं प्रयास का नाम नहीं। सुरुचि उसमें इस मात्रा में है कि एक शब्द उसके काव्यों में उस अर्थ बदला नहीं जा सकता। इसी कारण ध्वनि का अद्भुत गौरव उनमें है। किसी विषय को

भाव अथवा भाषा की बहुलता द्वारा कभी वह व्यक्त नहीं करता। मिठास की भी वह एक सीमा बाँध देता है, वह भी एक मात्रा तक ही कवि देता है। और उससे अधिक आपको जिज्ञासा हुई तो जानिये रुचि की आपमें कमी है। अलंकारों का उपयोग शैली को नितान्त बर्बर भी बना सकता है, बना देता है, और वही भोजन में नमक का काम भी करता है। वस्तुतः उस परख का माध्यम सुरुचि है जो कालिदास की शैली की प्राणवायु है। स्थूल और फूहड़ को त्याग वह सूक्ष्म की ओर जाता है पर सूक्ष्म की दुरूहता को वह पास नहीं फटकने देता और यह सूक्ष्मता उसकी 'ध्वनि' का आधार है। वह कानों पर आघात नहीं करता, स्थिति की ओर संकेत मात्र कर आगे बढ़ जाता है, और चुने हुए शब्दों का कोमल औदार्य हमें बरबस उस स्थिति को हृदयंगम करने को बाध्य करता है। हम जितना ही उस स्थिति को सोचते हैं उतना ही उसकी सीमा पसरने लगती है और उसके रहस्य की गाँठें खुलने लगती हैं। ऐसे स्थलों से कालिदास के काव्य भरे पड़े हैं, यहाँ केवल एक श्लोक अभिज्ञानशाकुन्तल से दिया जाता है। शकुन्तला त्याग दी गई है, अँगूठी द्वारा उसका 'अभिज्ञान' हुआ है, स्मृति जगी है और दुष्यन्त विरह और ग्लानि से गल रहा है। तभी वह अपने समय को उसका चित्र बनाकर काटता है। चित्र-फलक सामने है, अधिकतर चित्र बना रहा है, 'लैंडस्केप' में 'ग्रूप' का आलेखन चल रहा है। अभी अंकन समाप्त नहीं हुआ है और विदूषक के पूछने पर कि उसमें और क्या लिखना है, दुष्यन्त बताता है—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।

शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निमातुमिच्छाम्यधः
श्रृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥६, १७

"अभी मुझे इसमें बनाने हैं—बहती मालिनी की धारा, उसकी सिकता (रेत) में (किलकते) हंसों का जोड़ा, नदी के दोनों ओर हिमालय की पावन पहाड़ियाँ जिन पर हरिन बैठे होंगे, तरु जिस की शाखाओं से बल्कल लटकें हों जिसके नीचे कृष्णसार (काला) मृग-मृगी हों और मृगी मृग की सींग से अपना बायाँ नयन खुजा रही हो।" बड़ी कमनीय कोमल कल्पना है, ध्वनि की शालीनता गजब की है—आश्रम का चित्र है, उसी कण्व के आश्रम का। मालिनी की धारा अविरल जीवन की ओर संकेत करती है, स्नेह के अटूट प्रवाह की ओर, जैसे पहाड़ियों का सिलसिला भी जिस पर हरिणों का छलाँग मारता जीवन सुस्ता रहा हो। हिमालय के उस आश्रम की पावनता दुष्यन्त ने कभी नष्ट कर दी थी पर इन पहाड़ियों का संबंध 'गौरीगुरोः' शब्द प्रयुक्त कर कवि ने गौरी और उसके भी पूज्य गुरुजन (पिता) की याद दिलाकर काम को संयत किया है; स्वयं गौरी उमा का रूप है, विवाह से पहले का, पावन प्रेम के लिये तप के समय का, उस कैशोर का जब शकुन्तला तो भूल कर बैठी थी पर उमा की पावनता अक्षुण्ण बनी थी। फिर आश्रम का तरु और उसकी शाखा से लटके बल्कल तप, साधना और उससे भी बढ़ कर संयम के प्रतीक हैं यद्यपि उन्हीं के नीचे जीवन इठलाता है, मृग और मृगी का एक जोड़ा बैठा है और वह मिथ (एकान्त) में होते हुए भी मिथुन का भाव इतना नहीं व्यक्त करते जितना परस्पर विश्वास का, अन्योन्याश्रित सखित्व का। मृगी मृग की सींग से अपना नेत्र खुजा रही होगी। मृग के पास अपनी रक्षा के लिए, दूसरों पर आक्रमण के लिये एक

ही शस्त्र है, उसकी सींग, उसके शरीर का सबसे कठोर नुकीला ख़तरनाक अंग। उधर आँख सबकी ही अत्यन्त कोमल होती है फिर मृगी की, जिसका वह सर्वस्व ही नहीं है वरन् जो सौन्दर्य का अमित मान भी है, और निःसन्देह सभीता मृगी का तो कोमलतम गोपनीयतम मर्म। उसे वह कठोरतम सींग पर रखते नहीं झिझकती। झिझकना कैसा? वह तो उस पर उसे मात्र रखती नहीं घिसती है, उससे 'खुजाती' है। यह विश्वास की चरम परिणति है जब परस्पर का प्रेम अन्योन्य विश्वास की चोटी छू लेता है, जब प्रिया के लिये प्रिय का वह कठोरतम अंग जो दूसरों का भय है विलास का आसन बन जाता है, जिस पर वह अपने मर्म को रख देती है, घिसती है। संसार के साहित्य में यह विश्वास और उसको ध्वनित करने वाली यह काव्य-शक्ति नहीं मिलेगी।

सो ध्वनि, सुरुचि, प्रसाद और औदार्य हमारे कवि की अपनी सम्पदा है। भावों और आवेगों का वह उचित मात्रा में उचित रीति से अभिव्यंजन करता है। मानव-हृदय का वह असाधारण पारखी है। उसका युग सुरुचि का होता हुआ भी एक दिशा में आदर्शहीन था। प्राचीन का अधिक आदर करता था, नवीन की ओर से उदासीन था। कालिदास ने उसे सावधि और समकालीन की ओर खींचा। प्रतीक पुराने ही रखे पर साहित्यिक मूल्यांकन के मानदण्ड को उसने झकझोर दिया। और मजे की बात यह है कि अपनी जिस कृति—मालवकाग्निमित्र—में उसने अपनी इस नयी चेतना का, मूल्यांकन के नये आधार का प्रतिपादन किया—पुराणमित्येव न साधु सर्वं—उस कृति का कथानक अपेक्षाकृत अत्यन्त निकट के इतिहास का था।

नाटकों में कालिदास की भाषा भी संस्कृत की साहित्यिक परम्परा के अनुकूल संस्कृत और प्राकृतों में बँटी हुई है। अपनी प्राकृतों के लिये वह गद्यार्थ शौरसेनी और पद्यार्थ महाराष्ट्री का प्रयोग करता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में 'रक्षक' और धीवर मागधी बोलते हैं और श्याला शौरसेनी बोलता है। संस्कृत की ही भाँति प्राकृतें भी पूर्णतः से पंजरबद्ध हो चुकी थीं, इसीसे उनमें भी शैलियाँ बन गई थीं। वह अब बोलियाँ या जनभाषा नहीं रह गई थीं बल्कि नियमोपनियमों से कस गई थीं। उनके प्रयोग के भी विशेष अवसर और पात्र निश्चित कर दिये गये थे। वे अब प्राकृत नहीं रह गईं थीं।

कालिदास ने अपने काव्यों और नाटकों में कई प्रकार के छन्द प्रयुक्त किये हैं जिससे उन पर उनका समान रूप से अधिकार लक्षित होता है। ये सभी प्रकार के छन्द हैं कठिन और सरल, तरल और गुरु। सभी प्रकार के छन्द जैसे, आर्या, श्लोक, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, प्रहर्षिणी, शालिनी, स्रग्धरा, रथोद्धता, मंजुभाषिणी, अपरवक्त्रा, औपच्छन्दसिका, वैतालीय, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा, पृथिवी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, वंशस्थ, शिखरिणी, हारिणी, इन्द्रवज्रा, मत्तमयूर, स्वगता, तोटक, और महामालिका। समूचा मेघदूत मन्दाक्रान्ता में लिखा गया है। परम्परा के अनुसार साधारणतः काव्य में सर्ग के अन्त में छन्द बदल दिये जाते हैं। कालिदास ने सदा स्थिति के अनुकूल छन्द चुने हैं और उनके उपयोग की सिद्धहस्तता ने सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर दी है।

सातवाँ परिच्छेद

कालिदासयुगीन भारत

साहित्य को समाज का दर्पण होने की जो बात कही जाती है वह कालिदास के पक्ष में भी उतनी ही सही है जितनी उनसे पहले और पीछे के कवियों के संबंध में है। कालिदास के ग्रन्थों में राजनीतिक, सामाजिक, कला-सम्बन्धी, आर्थिक आदि की इतनी सम्पदा भरी पड़ी है कि उनको निष्कर्षतः लिखने में ग्रन्थों की परम्परा बन सकती है। अपने और प्राचीन काल का परम्परागत जीवन उनमें इतना भरा है कि कवि अकेला भारतीय संस्कृति का कोष बन गया है।

परन्तु उसके अनुशीलन में एक बड़ी दिक्कत है। वह यह कि जिस समाज का चित्र उसने खींचा है, उसकी जानकारी और उसके प्रयत्न से वह विगत दूर के समाज का चित्र है। और यद्यपि समाज की व्यवस्था, क्रान्ति के अभाव में, बहुत धीरे-धीरे बदलती है, विशेषकर सामाजिक व्यवस्था जिसमें रूढ़ियों की असाधारण टिकाऊ शक्ति होती है, फिर भी प्राचीन कवि के सामाजिक 'प्रबन्ध' में, जब विशेषतः वह अपने से भी दूर प्राचीन समाज का वर्णन कर रहा है, यह निश्चय करना कि क्या उसका समकालीन है, क्या प्राचीन बड़ा कठिन हो जाता है। यह भेद और भी कठिन हो जाता है जब कि कवि असाधारण पंडित और चतुर होता है क्योंकि समीक्षक दृष्टि जितनी ही पैनी उसकी

ऐतिहासिक भूलों को खोज निकालने में होती है उतना ही सतर्क कवि भी अपने को कालविरुद्धदूषण से बचाने में रहता है।

फिर भी कालविरुद्धदूषण महान् से महान् कृतिकारों में रह ही जाते हैं। स्वयं कालिदास की मेधा के व्यक्ति में भी रह ही गये हैं, उदाहरणार्थ, कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के दृश्य पुरुओं की राजधानी हस्तिनापुर में रखे हैं, पर वे भूल गये कि दुष्यन्त और शकुन्तला के समय हस्तिनापुर नगर था ही नहीं। उसका निर्माण जिस राजा ने कराया वह हस्तिन् दुष्यन्त से कई पीढ़ी बाद हुआ और उसके वंशधरों में से था। परन्तु इस प्रकार की ग़लतियाँ इतिहास के लिये बड़े काम की चीज़ हो जाती हैं। इन्हीं के आधार पर समसामयिक इतिहास रचा जाता है। सो कालिदास में भी आनेकानेक स्थल इस प्रकार के हैं जिनके आधार पर उनके युग के समाज के दर्शन किये जा सकते हैं। सामाजिक सामग्री के सम्बन्ध में तो ऐसा अध्ययन और भी सुकर हो जाता है क्योंकि समाज की व्यवस्था, विशेषकर रूढ़िवादी समाज की, कम और बहुत धीरे-धीरे बदला करती है। राजनीति में अधिकाधिक कठिनाई होती है क्योंकि उस दिशा में कवि ने साधारणतः परम्परागत शास्त्रीय दृष्टिकोण का सहारा लिया है और यद्यपि यह दृष्टिकोण भी सीमित रहता है और कम से कम आधार-शास्त्रों के समय से बहुत पीछे नहीं फेंका जा सकता, वह भूमि है निश्चय रपटीली और उस पर निष्कर्ष खड़ा करते समय अधिकाधिक सावधानी की आवश्यकता है। इससे हम भी यहाँ कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित राजनीति को छोड़ केवल सामाजिक, कलाजन्य, आर्थिक आदि प्रसंगों का उल्लेख करेंगे। कला-संबंधी प्रतीक विशेषतः, अनेक बार मात्रतः, समसामयिक होते हैं और कालि-

दास की चर्चा करते हुए भी उनके संबंध में अपेक्षाकृत हम सूखी भूमि पर खड़े होंगे। नीचे संक्षेप में उस समकालीन सामाजिक स्वरूप के हम दर्शन करेंगे जिसका उद्घाटन महाकवि ने अपनी कृतियों में किया है।

१. समाज

समाज की प्रायः वही पहले और पीछे की व्यवस्था थी, वर्णाश्रम धर्म के ऊपर आधारित वर्णों का महत्व अधिक था आश्रमों का कम। आश्रमों की परिपाटी निश्चय पहले ही समाप्त हो चुकी होगी, पर स्वाभाविक ही गार्हस्थ्य चलता था। ब्रह्मचर्य में जितना संबन्ध वेद या विद्याओं के अध्ययन से है उतना संभवतः जीवित था, परन्तु स्मृतियों में बाल-विवाह की प्रथा अनुमोदित हो जानेसे प्रगट है कि वह समाज-व्यवहार को देख कर ही स्वीकृत हुआ होगा। स्वतंत्र इतिहास और कालिदास के ग्रन्थ दोनों से प्रगट होता है कि साधुओं और अनेक प्रकार के परिब्राजकों भिक्षुओं आदि की संख्या भी देश में पर्याप्त थी। परन्तु यह प्रवृत्ति प्रब्रज्या आदि के कारण रही होगी, कुछ ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ और संन्यास की क्रमिक व्यवस्था के कारण नहीं।

हाँ, वर्णों की व्यवस्था पूर्ववत् महत्व की थी और लोग स्वाभाविक तौर से उन्हीं में जन्म लेते और मरते थे और उनके तत्संबंधी संस्कार होते थे। कालिदास ने राजा को वर्णों और आश्रमों का रक्षक और स्वयं उनकी व्यवस्था न लाँघनेवाला कहा है। उसे वह प्रजा को मनु के बताये धर्म की लीक पर चलानेवाला सारथी (नियन्ता) कहता है।

साधारणतः वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि थे जिनका

अपनी-अपनी सीमा में रहना सम्मान्य माना जाता था। परन्तु ये सीमायें सदा अक्षुण्ण नहीं रह पाती थीं और अनेक बार एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण में विवाह-संबंध स्थापित कर लेते थे। मालविकाग्निमित्र में एक जेनरल को 'वर्णावरो भ्राता' कहा गया है जिसका अर्थ है ऐसा भाई जो असवर्ण संबंध का द्योतक है, इस विशेष प्रसंग में ऐसा पुत्र जिसका पिता तो ब्राह्मण या क्षत्रिय है और माता क्षत्रिया, वैश्या या शूद्रा है। (सेनापति वीरसेन रानी धारिणी का भाई है, धारिणी राजा अग्निमित्र की पत्नी है जो पुरोहित ब्राह्मण-कुल का था)। इस काल के इतिहास से भी प्रमाणित है कि इस प्रकार के विवाह पर्याप्त संख्या में हो जाया करते थे। स्वयं चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (कालिदास के संरक्षक) की पुत्री प्रभावती (क्षत्रिया या वैश्या) वाकाटकराज से ब्याही थी और वाकाटक ब्राह्मण-कुल के थे।

ऊँचे वर्णवालों का नीची वर्णवालों को जब-तब नीची नज़र से देखना कुछ अनजानी बात न थी। धीवर को शाकुन्तल में सिपाही, स्वयं जो क्षत्रिय रहा होगा, अपमानजनक बात उसके पेशे को लक्ष्य कर कहता है। इस पर धीवर उसे उत्तर देता है कि जो जिसका वर्ण अथवा अवर्ण-पेशा है वही उसका उचित कर्तव्य है और पेशे के साथ दारुण-अदारुण सभी प्रकार के कर्म बँधे है। जैसे श्रोत्रिय तो अहिंसक ब्राह्मण है पर उसे भी अपने कर्तव्य के अनुसार यज्ञ-कर्म कराते समय पशु-हनन करना ही पड़ता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय का तो बारबार इन ग्रन्थों में उल्लेख हुआ है, औरों के लिये भी 'वर्ण' का प्रयोग सामूहिक रूप से हुआ है। वैसे नैगम, श्रेष्ठी, वणिज, सार्थवाह आदि वैश्य के लिये प्रयुक्त हुए हैं। लगता है साधारणतः यज्ञोपवीत का उपयोग

केवल ब्राह्मण करते थे क्योंकि परशुराम के संबंध में उसे ब्राह्मण पिता का चिन्ह कहा गया है (पित्र्यवंशमुपवीतलक्षणं)। यज्ञोपवीत के अतिरिक्त द्विजों, कम से कम ब्राह्मण के, पुंसवन, जात-कर्म, नामधेय, चूड़ाकर्म, गोदान, विवाह, अन्त्येष्ठि आदि संस्कार भी होते थे। कालिदास ने इनका उल्लेख किया है।

महाकवि ने स्वयंवर, प्राजापत्य, गान्धर्व और आसुर (दुहितृ-शुल्कसंस्थया) चार प्रकार के विवाहों का वर्णन किया है परन्तु जान पड़ता है कि वस्तुतः एक प्राजापत्य ही साधारण रीति से प्रचलित था। अज, शिव आदि के विवाह इसी रीति से होते हैं। प्राजापत्य विवाह के अवसर पर वधू के मंडन का विस्तृत वर्णन है। पिता शुक्ल-पक्ष में शुभ दिन देख कर विवाह की तैयारी करता था। राह चीनी रेशम की ध्वजाओं और चमकते तोरणों से सजाई जाती थी। वधु का मंडन बड़े विस्तार से होता था। वह मंडन केवल ऐसी अविधवायें ही करती थीं जिन्होंने पुत्र उत्पन्न किये हों। दूर्वा उसके बालों में खोंस उसे रेशमी परिधान पहनाते थे। क्षत्राणी हाथ में बाण धारण करती थी। चन्दन और कालेयक का लेप उसके शरीर पर लगाया जाता था और लोध का चूर्ण छिड़का जाता था। उसे स्नान कराकर फिर दूसरा रेशमी वस्त्र पहनाते थे और अविधवा स्त्रियाँ उसे मंडप में ले जाती थीं। वेदी पर पूर्व की ओर मुख कर वह बैठ जाती थी, फिर उसके शरीर, केश आदि को सुबासित धुएँ से सुखाते और केशों में फूल गूँथते थे। अगुरु और गोरोचन मिला कर उसके कपोलों पर पत्रलेखन करते थे। कानों पर जव के अंकुर रखते थे। होठों को लाल रंग से रंग देते थे। फिर पैरों को भी आलता से रंग कर नेत्रों में अंजन लगाते थे। फिर उसे आभूषण पहना कर दर्पण के सम्मुख खड़ा

करते थे। तब माता उसकी कलाई पर कंकण या कौतुक-सूत्र बाँधती थी। उसके बाद वधू कुलदेवता का पूजन कर बड़ी-बूढ़ियों को प्रणाम करती थी। कालिदास ने उस अवसर पर जिस आशीर्वाद का उपयोग किया है वह असीम कल्याण का द्योतक है—अखंडितं प्रेम लभस्व पत्युः—पति का अखण्ड प्रेम प्राप्त करो! इससे सुन्दर आशीर्वाद वधू के लिये नहीं हो सकता। वर भी इसी प्रकार अपने घर सजता था। अंगराग आदि विले-पन से शरीर को दर्शनीय कर नये वस्त्र, आभूषण आदि धारण करता था, हड़ताल और मनशिल का तिलक लगाता था, फिर छत्र के नीचे वाद्य के साथ वधू के घर जाता था। द्वार पर पूर्ण कलश आदि मांगलिक रखे रहते थे। वहाँ वैदिक और लौकिक विधि से विवाह की विधि संपन्न होती थी।

कवि ने समाज में विधवाओं के होने का भी परोक्ष रूप से उल्लेख किया है। वधू को सजाने आदि के कार्य में केवल 'अवि-धवा' स्त्रियाँ ही हाथ बटा सकती थीं जिससे प्रगट है कि समाज में विधवायें थीं। वैसे रति-विलाप के एक प्रसंग से ज्ञात होता है कि पति की मृत्यु पर पत्नी का सती हो जाना स्वाभाविक माना जाता था—प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि। निःसन्देह यह प्रथा साधारणतया प्रचलित न थी।

नारियों में पर्दा इस रूप में न था जैसे आज है। वे घर से बाहर भी जाकर गा-बजा सकती थीं, नदी में स्नान करते समय अनेक प्रकार की क्रीड़ायें करती थीं। परन्तु निश्चय बड़ों के सामने उनका सिर ढँकना, मुँह पर पर्दा कर लेना भी उचित माना जाता था। शकुन्तला जब दुष्यन्त के दरबार में जाती है तब वह अवगुण्ठनवती है, और अपने को पहचनवाने के लिये

उसे अवगुंठन (घूँघट) हटाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त भी स्त्रियों के रहने का स्थान 'शुद्धान्त', 'अन्तःपुर', 'अवरोध' आदि कहलाता था। इन नामों में भी वही ध्वनि है पर जिस रूप में पर्दा उत्तर भारत में आज है वैसा ही पहले भी रहा हो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे कार्यवश, विवाह आदि के अवसरों-उत्सवों पर सर्वत्र आती-जाती थीं। उनके ईख और शालि (धान) के खेत रखाते समय ईख की छाया में बैठ कर विजयी राजा के गीत गाने का कवि ने उल्लेख किया है।

नीचे हम भोजन, पान, परिधान, आभूषण, मंडन आदि का कुछ विस्तार से उल्लेख करेंगे।

आहार अनेक प्रकार के थे। जौ (उसी परिवार का गेहूँ, यद्यपि कवि ने इसका उल्लेख नहीं किया है), शालि और कलमा (धान की क़िस्में), तिल, चीनी, गुड़, मिठाई (लड्डू), दूध और उसके अनेक विकार, जैसे, घी, मक्खन, शिखरिणी, दही, और खीर, मधु, अनेक प्रकार के मांस, मछली विविध प्रकार के मिर्च-मसाले, इलाइची, लौंग, नमक आदि आहार की सुस्वादु वस्तुयें थीं। इनके अतिरिक्त कन्द, मूल, फलों के अनन्त प्रकार इस देश में उपलब्ध थे। ऊपर केवल उन खाद्य पदार्थों के नाम गिनाये गये हैं जिनका उल्लेख कवि के ग्रन्थों में हुआ है।

यह सही है कि तत्कालीन चीनी यात्री फ़ाह्यान ने लिखा है कि लोग मांस नहीं खाते न मद्यपान करते हैं। प्रगट है कि बौद्ध होने के कारण उसे लोगों का साधारण आहार सदा देखने को नहीं मिला वरना हमारे सारे साहित्य में, यज्ञादि की विधि-क्रियाओं तक में, मांस और आपान के प्रति स्पष्ट और अप्रगट संकेत भरे पड़े हैं। वस्तुतः चीनी यात्री अन्यत्र स्वयं लिखता है कि केवल

चाण्डाल और धीवर ही अहेर करते और मांस बेचते हैं। आख़िर उसे ख़रीदने वाले तो द्विज ही होंगे। फिर इतने आखेटों की हिंसा क्या व्यर्थ ही हुआ करती थी? इसके अतिरिक्त स्वयं कालिदास ने मांसादि के अनेक बार उल्लेख किये हैं। उनसे तो प्रगट है कि ब्राह्मण तक मांस खाया करते थे। अभिज्ञानशाकु-न्तल का विदूषक तो सुअर तक का भुना हुआ मांस खाता है। और उसके इस स्वीकरण में विशेष ध्वनि यह है कि उसे जंगल में अच्छे प्रकार का मांस नहीं मिलता। शिकार के अतिरिक्त देश में बूचड़खाने भी थे। मालविकाग्निमित्र का विदूषक राजा से कहता है कि आप तो गिद्ध की भाँति बूचड़खाने (शूणा) के चारों ओर मँडराते रहते हैं। खानेवाली मछलियों में से 'रोहित' का कवि ने स्पष्ट उल्लेख किया है। साथ ही उसने पाँचों प्रकार के भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य और पानीय आहारों का अपने पद 'पञ्चविहस्स' में संकेत किया है।

मद्यपान का तो कालिदास के ग्रन्थों में जैसे पग-पग पर वर्णन है, जिससे लगता है कि शराब साधारणतः और बिना किसी प्रतिबन्ध या निन्दा के पी जाती थी। 'स्खलयन्पदेपदे', 'घूर्णमाननयनं', 'पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि', 'ण मे चलणो, अण्णदो पवट्टन्ति। मदो मं विआरेदि', आदि में मद्य का ही उल्लेख है। इस प्रकार के सैकड़ों प्रसंग कवि की कृतियों में भरे पड़े हैं। कालिदास के विचार से नारियों में मदिरा से एक विशेष सौन्दर्य आ जाता है। मालविकाग्निमित्र की इरावती मद्य से विक्षिप्त दिखाई गई है। इन्दुमती अज के मुँह से शराब अपने मुँह में लेती है। कुमारसम्भव में शिव मदिरा स्वयं पीते और पार्वती को भी पिलाते हैं। आम तौर से लोग मद्य का सेवन करते थे। शाकुन्तल

में नागरिक और सिपाही राह की दूकान में बैठ कर पीते हैं। रघु की सारी सेना आसव पीती है। 'चषक' (पीने का प्याला) और 'पानभूमि' साधारण उपयोग की वस्तु थे। कितनी बार तो लोग एक साथ इतना पी-पीकर प्याले तोड़ते जाते थे कि भूमि 'चषकोत्तरा' हो जाती थी।

शराब का आम प्रयोग इससे भी जाना जाता है कि कवि ने उसके लिये अनेक पर्याय और विविध शब्दों—जैसे मद्य, आसव, मदिरा, मधु, वारुणी, कादम्बरी, शीधु—का व्यवहार किया है। तीन प्रकार की मदिरा का तो उसने विशेष उल्लेख किया है, जैसे नारिकेलासव (नारियल से बनी), शीधु (ईख से बनी) और मधूक (महुये) आदि फूलों से बनी पुष्पासव का। शराब फूलों से बास भी ली जाती थी। आम के बौर और लाल पाटल के फूल मदिरा बासने के काम अधिकतर आते थे। इसके अतिरिक्त शराब पीकर उसकी बास बिजौरा नींबू से भी मिटाई जाती थी। पान और सुपारी भी उस अर्थ में प्रयुक्त होते थे। मालविकाग्निमित्र में शराब का नशा उतारनेवाली एक विशेष प्रकार की चीनी 'मत्स्यण्डिका' (संभवतः राब) का उल्लेख हुआ है। वस्तुतः उस काल के भारत में, या पहले और पीछे भी, मद्य पीना इतना साधारण था कि उसके दुष्परिणामों की भी कोई सीमा नहीं थी। उसकी अधिकता के दुष्परिणामों से बचने के लिये ही बाद में मदात्यय-चिकित्सा और अजीर्णामृतमञ्जरी आदि के मद्य-संबंधी ओषधि-ग्रन्थों की रचना हुई थी। संभव है ब्राह्मणों में इसका कुछ परहेज़ रहा हो पर, जैसा रघु की सेना के संबन्ध में उल्लेख किया जा चुका है, क्षत्रियों का मदिरा पीना तो साधारण बात थी। यह सही है कि कालिदास का अधिकतर वर्णन धनी और

शासक-वर्ग का है पर कई उल्लेख तो सर्वथा साधारण जनता से संबंध रखते हैं, फिर कुछ तो नारियों में भी मद्यपान का प्रचलन स्पष्ट कर देते हैं, जिनमें इरावती, इन्दुमती और पार्वती के सम्बन्ध के उल्लेख तो विशेष महत्व के हैं।

परिधानों के अनेक वर्णन आये हैं। परिधान कई प्रकार के होते थे। स्वयं रंगमंच पर कई प्रकार के परिधानों की आवश्यकता होती होगी। अभिसारिका, विरहिणी, व्रतचारिणी, विवाहादि के परिधानों के उल्लेख हुए हैं। वस्त्र रुई, रेशम (कौषेयक, चिनांशुक), ऊन (पत्रोर्ण) के होते थे और सफ़ेद, लाल, नीले, पीले, काले कई रंगों में व्यवहृत होते थे। फूँक से उड़ा दिये जाने वाले कपड़ों (निःश्वासहार्य) की ओर भी कवि ने संकेत किया है। गर्मियों के महीन वस्त्रों में लोग शीतलता के लिए मोती आदि भी बुनवा लेते थे। ऋतुसंहार (५, १४) से पता चलता है कि संपन्न लोगों के रात और दिन के परिधान अलग-अलग होते थे। विवाह-नेपथ्य (विवाह के परिधान) का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

पुरुषों और नारियों के वस्त्र स्वाभाविक ही अलग-अलग थे। पुरुष सिर पर पगड़ी (वेष्टन) बाँधता और दो वस्त्र (दुकूलयुग्मम्), ऊपर उत्तरीय (चादर) और नीचे धोती, धारण करता था। श्रीमानों के उत्तरीयों में रत्न गुँथे होते थे (रत्नग्रथितोत्तरीयं)। नारियाँ तीन वस्त्र पहनती थीं—स्तनांशुक या कूर्पासक (चोली), साड़ी (बग़ैर आँचल या पल्ले की), और उत्तरीय जो अवगुंठन (घूँघट) का भी समय-समय पर काम करता था। घँघरी या साड़ी का ऊपरी भाग एक प्रकार के इज़ारबन्ध से बाँध लेते थे जिसे 'नीवी' कहते थे। चौड़ी मेखला नीवी

द्वारा बाँधी धोती के उस ऊपरी भाग को ढँक लेती थी। राजा की पार्श्ववर्तिनी यवनियाँ (ग्रीक) स्वामी की शस्त्रवाहिनी होती थीं जो अन्तःपुर की रक्षा के अतिरिक्त राजा के साथ आखेट में भी जाती थीं। उनके विशिष्ट परिधान का भी कवि ने संकेत किया है यद्यपि उससे उनकी वेश-भूषा स्पष्ट न हो सकी। पर अनेक कुषाणकालीन मूर्तियों में उनकी फ़्राक और घुटने तक के जूते और पट्टी से बँधे हुए उनके केश देखने को मिल जाते हैं। ये कालिदास से कुछ ही पहले की हैं। परिव्राजक गेरुआ (काषाय) और आश्रमवासी पेड़ों की छाल (बल्कल) पहनते थे। कालिदास ने सीने पर तरकश की पट्टी डाले और सिर पर कानों तक लटकते मोरपंख पहने डाकुओं का भी वर्णन किया है।

आभूषणों के प्रकारों की तो कोई सीमा न थी। कवि ने एक एक के विविध प्रकारों का अनेक पर्यायों द्वारा उल्लेख किया है। आभूषण पुरुष और नारी दोनों पहनते थे। नारियों का तो कोई अंग नहीं था जहाँ के अलंकार का कवि ने उल्लेख न किया हो। सिर पर पहनने के आभरण थे—चूड़ामणि, रत्नजाल या मुक्ता-जाल (केशों को ढँकने वाला रत्नों या मोतियों का जाल) और किरीट (राजाओं का मुकुट)। नारियाँ अपनी वेणियों में फूल की जगह अनेक प्रकार के रत्न-फ़ूल गूँथतीं या अलंकार धारण करती थीं। लोग कानों में लाल और रत्नों के बने-जड़े अनेक प्रकार के कनफूलों (कर्णभूषण, कर्णपूर, कुण्डल, मणिकुण्डल) पहनते थे। गले में निष्क (सिक्कों का हलका), या अनेक प्रकार के हार (मुक्तावली, तारहार, हारशेखर, हारयष्टि, हेमसूत्र, प्रालम्ब, माला, वैजयन्तिका) पहने जाते थे। इसी प्रकार बाहुओं में भुजदण्ड (अंगद, केयूर) कलाइयों में कड़े या चूड़ियाँ (वलय) और अँगुलियाँ

अंगुलीय (अंगुलीयक)। अँगूठियों में अनेक प्रकार के रत्न जड़े रहते थे, उन पर नाम खुदे होते थे और सर्प आदि की अनेक मुद्रायें, चित्र आदि बने रहते थे जिनका प्रयोग मुहर के रूप में भी जब-तब होता था। करधनी की भी कितनी क़िस्में थीं और कालिदास ने उनका मेखला, हेममेखला, काञ्ची, कनककाञ्ची, किंकिणी, रशना आदि अनेक पर्यायों द्वारा उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त पैरों में रत्नजटित नूपुर भी पहने जाते थे। आभूषण रखने के लिये रत्न-पेटिकाओं का उपयोग होता था।

पुरुष केश लंबे और कटा कर छोटे भी रखते थे। कटे बालों में शिखा साफ़ दिखती थी। बालों को केशपट्ट से जब-तब बाँध लेते थे। पुरुष दाढ़ी बना कर साफ़ रखते थे। कुछ लोग दाढ़ी रखते भी थे। कालिदास ने ईरानियों की लंबी दाढ़ियों का ज़िक्र किया है। लड़के बाल कटा कर दोनों ओर केश के गुच्छे रखते थे। इन्हें काकपक्ष कहते थे। स्त्रियाँ अपने लंबे केशों में तेल डालतीं और कंघा करती थीं। कभी वे उनकी एक या अनेक वेणियाँ बना पीछे लटका लेतीं या जूड़ा बना कर सिर पर सजाती थीं। केशों में मोती या फूल पहने जाते थे। सिर धोने के बाद बालों को अगुरु, चन्दन आदि के धुएँ से सुखा कर सुवासित करती थीं। पतिविरहित स्त्रियाँ केश-प्रसाधन न कर उन्हें एक ही वेणी में गूँथ बग़ैर तेल लगाये रूखी ही छोड़ देती थीं। पति ही लौट कर वेणी खोला करता था। माँग को 'सीमन्त' कहते थे।

प्रसाधन का कालिदास ने बड़ा विशद वर्णन किया है। प्रसाधन की वस्तुओं में निम्नलिखित पदार्थों का उपयोग होता था—फूल, गजरे, सुवासित धूम, अंजन, तेल, इत्र, अनेक प्रकार

के पाउडर, अवलेप (उबटन), होठों और पैरों को रँगने के साधन, मुँह और शरीर को बासने की चीज़ें।

स्वाभाविक ही फूल प्रसाधन के सब से आवश्यक अंग थे। लोगों के जीवन में फूलों का विशेष स्थान था। कालिदास ने उनका अथक वर्णन किया है। मर्द औरत दोनों गजरे और हार पहनते थे जो अक्सर घुटनों तक पहुँचते थे। नारियाँ उनको अपने केशों में और अनेक आभूषणों के स्थान में धारण करती थीं। केसर, कर्णिकार, कुन्द, मन्दार, शिरीष, कुरबक सभी का उपयोग करती थीं। आश्रम-बालिकाओं के प्रसाधन तो एकमात्र पुष्पों से ही होते थे। मालिनों का एक बड़ा वर्ग इसी से देश में बन गया था।

स्नान के पहले सुगंधित द्रव्यों से बने उबटन का उपयोग होता था। उबटन को अनुलेप, अंगराग आदि कहते थे। इनको उशीर आदि घासों या चन्दन से बनाते थे। उबटनों में कालेयक, कालागुरु, हरिचन्दन आदि का भी उपयोग होता था। आश्रम वाले इंगुदी का तेल लगाते थे। शरीर को बासने का एक साधन मुश्क या कस्तूरी भी थी। स्त्रियाँ हरताल और मनशिल घिस कर तिलक लगाती थीं। उनकी अंजन लगाने वाली सलाई को शलाका कहते थे। सलाई संभवतः उसी शब्द से बना है। चन्दन और कुंकुम का लेप नारियाँ गर्मियों में शीतलता के लिए स्तनों पर करती थीं। अपने गालों पर वे लता की भाँति सुकुमार टहनियाँ और पत्तियाँ बनाती थीं, छोटी-छोटी चन्दन आदि के बिन्दुओं से भी रेखायें आदि बनती थीं। इनके पत्रलेखन, पत्र-रचना, विशेषक, पत्र-विशेषक, भक्ति आदि अनेक नाम थे। इनके लिए लेप तैयार करने में शुक्ला गुरु, कालागुरु, गोरोचन, चन्दन, कुंकुम आदि का इस्तेमाल होता था। स्त्रियाँ आलते से

अपने होंठ और पैरों के तलवे रंगती थीं। होठों को लाल रंग कर उन पर लोध-चूर्ण छिड़क लेते थे जिससे उन पर एक बड़ा आकर्षक हल्का पीलापन आ जाता था। स्वच्छ दर्पण का सर्वत्र प्रयोग होता था। कहना कठिन है कि दर्पण बनता धातुओं से था या काँच से। काँच का उपयोग अनेक देशों में अभी तक नहीं होता था यद्यपि 'परिप्लस आफ़ दि इरिथ्रियन सी' की व्यापार-तालिका में भारत आने वाली चीज़ों में कच्चे काँच का भी ज़िक्र है।

२. आचार, मनोरंजन, फ़र्नीचर, आदि

सभी समाजों में बड़े, छोटे और बराबर वालों में व्यवहार के अनेक आचार बन जाते हैं जो सामाजिक संस्कृति के आवश्यक अंग होते हैं। कालिदास के युग में भी गुरुजनों,आदि के प्रति समुचित व्यवहार होता था। बड़ों को लोग मस्तक झुका कर 'प्रणाम' करते थे। उस अर्थ में लोग प्रणाम, वन्दे, नमस्ते आदि शब्दों का प्रयोग करते थे। पिता, माता, गुरु के पाँव भी छुये जाते थे। ये अनेक लोग 'साष्टांग दण्डवत' करते थे। बड़े अपने से छोटों को आशीष देते थे। जैसे तपस्वी राजा को चक्रवर्ती पुत्र पाने का आशीर्वाद देता था , बड़े लोग अविवाहिता कन्या को 'अनन्य-भाजम् पति' या उसका अखण्डित प्रेम पाने का आशीर्वाद देते थे। उस प्रकार आशीर्वाद पाने वाला कहता था—'अनुगृहीत हुआ।' एक दूसरा आशीर्वचन 'चिर जीओ' (चिरंजीव!)भी था जो 'चिरंजो' की ध्वनि में आज भी हिन्दी में जीवित है। ऋषि-मुनि, देवता की प्रदक्षिणा भी की जाती थी। लोग जाने वालों को विदा करते समय प्रायः कहते थे—'शिवास्ते पन्थानः सन्तु!' (तुम्हारा मार्ग निष्कण्टक या शुभ हो!) बराबर वाले या भाई आदि गले

मिलते या हाथ मिलाते थे (परस्परं हस्तौ स्पृशतः)। दूर वालों को योग-क्षेम भेजा जाता और उनकी कुशल पूछी और मनाई जाती थी। बड़ों से बात करते समय छोटे तनिक आगे झुक जाते और चुने हुए विनीत शब्दों का व्यवहार करते थे। अधिकतर व्यवहार लोग हाथों को जोड़ कर करते थे।

परिवार अधिकतर संयुक्त होता था जिसमें पति-पत्नी, पिता-माता, भाई-बहिन सभी होते थे। चाचा-चाची, सास-ससुर, मामा-मामी आदि से भी लोग सुन्दर व्यवहार बनाये रखते थे। श्रीमानों के बच्चों के लिए धायें होती थीं जो उन्हें दूध पिलाती और खेलाती, चलना, बोलना आदि सिखाती थीं। पुत्रहीनता कवि ने बड़ा दुःख माना है। पुत्र की तुतली बोली और उसके स्पर्श के सुख का उसने सुन्दर और सम्मोहक वर्णन किया है।

नित्य के गार्हस्थ्य व्यवहार में अतिथि-सत्कार आवश्यक और विशिष्ट माना जाता था। उसकी वस्तुतः पूजा होती थी। अतिथि के पैर धोकर उसे अर्घ्य आदि प्रदान करते थे। मित्रों का स्वागत करते समय लोग उन्हें अर्घ्य, दूर्वा, फूल आदि लेकर भेंटते थे। विनय सामाजिक व्यवहार का अभिन्न अंग था।

मनोरंजन के समाज में अनेक साधन थे। कालिदास के वर्णन से प्रगट है कि अवकाश वाले लोगों को मन-बहलाव के अनन्त साधन उपलब्ध थे। सुरा और सुमन का जिस समाज में आधिक्य हो उसमें भला मनोरंजन के साधनों की क्या कमी हो सकती है? संगीत—गायन, वादन, नर्तन—का नित्य और प्रचुर व्यवहार होता था। त्यौहारों और उत्सवों की संख्या अनन्त थी और इन अवसरों के अतिरिक्त कलासेवन मात्र के अर्थ भी संगीत का उपयोग असाधारण मात्रा में होता था। कुछ लोग तो कला-

साधना को पागलपन की हद तक पहुँचा देते थे। स्त्रियाँ नदियों में नहाते समय पानी को तबले की भाँति पीट-पीट कर क्रीड़ा करती थीं। पुष्प-निचय भी उनका एक सम्मान्य कार्य था। लता-निकुंजों में पुष्प-शय्या सजाई जाती थी जहाँ प्रेमी मिलते या लोग गर्मी में शीतलता प्राप्त करते थे। पिचकारियों में भर-भर रंग फेंकना भी अक्सर अनेक अवसरों पर साधारण मनोरंजन था जिसमें नर-नारी दोनों भाग लेते थे। अनेक लोगों को पासा खेलना बड़ा प्रिय था। जुए की लत बुरी मान कर भी लोग उसे खेलने से नहीं चूकते थे। छोटे लड़के और लड़कियाँ गेंद उछाल-उछाल कर खेला करते थे।

जहाँ उपवनों का इतना अमित साधन प्राप्त था, फूलों का इतना व्यवहार होता था, वहाँ प्रमदवन (उद्यान) के सुखों से लोग क्योंकर वंचित रह सकते थे। लता-कुंजों के भीतर और बाहर झूले टँगे रहते थे जिन पर नर-नारी झूलते और पेंग मारते थे। झूलने को 'दोलाधिरोहण' कहते थे। अनेक विषयी राजा और श्रीमान् तो अपने नज़रबागों (प्रमदवनों) में ही समय बिताते थे। वहीं आपानक (मद्य पीने का स्थान) भी रचाये जाते थे। वहीं के 'लीलागारों' में अनेक प्रकार की स्निग्ध लीलायें होती थीं। तालाबों में ऐसे कमरे भी होते थे जिन्हें कामगृह आदि नामों से पुकारते थे और जहाँ नहाते-नहाते प्रणयी सहसा आश्रय ले लिया करते थे। शामें लोग कहानियाँ कह-कह कर बिताते थे। प्रेम-सम्बन्धी रोचक रोमैंटिक कथायें लोगों को बड़ी प्रिय थीं। इसी से उदयन की वासवदत्ता को उज्जयिनी से भगा ले जाने वाली कथा उस नगर में खूब कही-सुनी जाती थी। महाकवि ने उज्जयिनी के उदयन-कथा-कोविद ग्राम-वृद्धों का उल्लेख

मेघदूत में अत्यन्त मधुर रीति से किया है जो पढ़ने वाले के मन पर एक बेबस कर देने वाला जादू डालता चला जाता है। शुक-सारिका से विरह के क्षणों में बात करना और पालतू मोर को ताली बजा-बजा नचाना भी एक मनोरंजन था।

उस स्थिति में, प्रगट है, लोगों के आचरण भी सदा पुनीत नहीं रह पाते होंगे। कालिदास के वर्णनों से पता चलता है कि समाज में रसिकों, प्रेमियों, अनुचित प्रणयियों की कमी न थी। सुरा और सुन्दरी के भी उपासक उसमें अमित संख्या में थे। गायिकाओं, गणिकाओं आदि के अनेक वर्णन कवि ने किये हैं। इनका उपयोग कामुकता की आवश्यकताओं से लेकर पुत्र-जन्म आदि उत्सवों तक में किया जाता था। कालिदास ने नीच-गिरि की गुफाओं को वारांगनाओं के प्रसाधन-द्रव्यों से मह-मह होने का संकेत किया है। उज्जैनी के महाकाल मन्दिर की चँवर-धारिणी नर्तकियाँ जितना ही अपने चँवर-दण्डों के रत्नों से प्रकाश फेंकती हैं उतना ही अपने कटाक्षों से रसिकों के हृदय को छेदती हैं। अभिसारिकाओं के इतने उल्लेख कवि ने किये हैं कि अभिसार समाज में, लगता है, अति स्वाभाविक रूप से सह्य था। अयोध्या की नगर-देवी कुश से अयोध्या की उजड़ी हुई दीन दशा का वर्णन करते समय कहती है कि जिस राह आकर्षक अभिसा-रिकायें प्रणय-साधन के निमित्त जाती थीं उस राह अब केवल अशिवरूप सियारिनें चलती हैं! संकेतस्थानों में जाकर प्रेमियों से मिलना साधारण बात थी। प्रणय-संबन्ध को सफल करने के लिए 'दूतियों' का उपयोग लोग करते थे। धूर्त प्रणयी या ऐसे पति को, जो पत्नी से झूठे प्यार की बात करता पर मन कहीं और लगाता था, 'शठ' कहते थे। शाकुन्तल और कुमारसम्भव में

प्रेम-पत्रों (मदनलेख) का उल्लेख हुआ है। युग वस्तुतः वात्स्यायन का था और 'कामसूत्र' सभी पढ़ते थे, नागरिक गृहस्थ भी, गायक कवि भी। वस्तुतः वात्स्यायन ने 'नागरक' का जो रूप दिया है वह प्रेमी का ही है। उसका दूसरों की पत्नी के प्रति प्रेम-प्रदर्शन मुनि को असह्य नहीं, वरन् उसकी सफलता के लिये उसने उपाय भी लिखे हैं।

पर साधारण गृहस्थ फिर भी इस स्थिति से दूर था। अपनी भार्या से सन्तुष्ट रहता और उसके प्रसाधन के सभी उपाय करता था। दूसरों की पत्नियों की ओर देखना अनुचित माना जाता था। मेघदूत की इतनी मधुमय कल्पना का नायक यक्ष भी अपनी एक पत्नी के प्रति अनुराग का बखान करता है, अपने अन्य विलासों का नहीं। साधारणतया गृहस्थ की हवेली 'शुद्धान्त' ही थी।

गृहस्थी की आवश्यक वस्तुओं का भी कालिदास ने अपने कथा-प्रसंग में वर्णन किया है। उनमें बैठने-सोने आदि के आसनों और फ़र्नीचर के अन्य अंगों की बात पढ़ कर लगता है कि जीवन लोगों का रहने-सहने के मामले में भी काफ़ी विकसित हो चुका था और सुख के सभी साधन कम-वेश साधारण गृहस्थ को भी प्राप्त थे। यह सदा फिर भी स्मरण रखने की बात है कि कालिदास ने अधिकतर श्रीमानों का ही वर्णन किया है और साधारण गृहस्थ की बात कहते समय हमें इस सीमान्त का सदा ध्यान बनाये रखना होगा।

कवि ने सोने, चाँदी, पत्थर, लकड़ी सभी प्रकार के आसनों का उल्लेख किया है। गजदन्त के बने सफ़ेद चादर से ढँके आसन का भी वर्णन रघुवंश में आया है। भद्रपीठ या भद्रासन, जिन पर लोग साधारणतया बैठते थे, वर्तुलाकार (गोल) या चतुराकार

(चौकोन) होते थे। इसी प्रकार वेत्रासन बेंत के बने होते थे। पीठिका संभवतः इस प्रकार का आसन थी जिसमें पीठ टेकने के लिए भी पीछे पट्टिका लगी होती थी। विष्टर (जिससे 'बिस्तर' बना है) वस्तुतः तब बैठने का ही आसन था। राजा अनेक बार उसी पर ऋषि-मुनि को अथवा इन्द्र अपने कार्यसाधक पार्थिव राजा को अपने साथ ही बिठा लिया करता था। मंच एक प्रकार की बेंच थी। अनेक बार गैलरी के रूप में मंच के ऊपर मंच बनाये जाते थे। शय्या सोने वाले बिस्तर का साधारण नाम था। यह लकड़ी और फूलों तक की हो सकती और होती थी। भारी पलंगों को 'तल्प' या 'पर्यंक' कहते थे। वे अनेक प्रकार के होते थे। प्रत्येक शय्या और आसन हंसधवल चादर से ढका होता था। चादर के 'उत्तरच्छद', 'आस्तरण' आदि कई नाम थे। उत्तरच्छद संभवतः पलंग की चादर थी, आस्तरण साधारण आसनों की। ऊपर टाँगने वाली चाँदनी का भी उल्लेख हुआ है। इसमें घंटियाँ बँधी लटकी रहती थीं। राजा के चँदोवे को 'श्रीवितान' कहते थे।

कवि ने गृह-सम्बन्धी अन्य सामग्री का भी उल्लेख किया है। सभी प्रकार के सोने, चाँदी, अन्य धातु, मिट्टी के भाण्ड आदि प्रयुक्त होते थे। कुम्भ एक प्रकार का बड़ा घड़ा था, घट और कलश भी जल और तरल पदार्थ रखने के काम में आते थे। सामान रखने के लिए मंजूषा, करण्डक और तालवृन्तपिधान जैसे सन्दूकों का लोग उपयोग करते थे। मंजूषा इन तीनों में बड़ी होती थी, चौखूँटी, धातु (लोहे) या लकड़ी की बनी। मानसार में इसके तीन प्रकारों—पर्णमंजूषा, तैलमंजूषा और वस्त्रमंजूषा—का उल्लेख हुआ है। कालिदास ने उसका रत्न और आभूषण रखने वाली सन्दूक के अर्थ में व्यवहार किया है। करण्डक में

संभवत: फूल आदि प्रसाधन की वस्तुएँ रखी जाती थीं। तालवृन्त-पिधान ताड़ की पत्तियों का बुना होता था। वह भी एक प्रकार की पेटिका ही था। इनके अतिरिक्त घर में विविध प्रकार की आवश्यकताओं के लिए अनेक वस्तुएँ रहती थीं। दीप, ताड़ और कमल-पत्रों के पंखे, छाते आदि। कपड़े के बने शिविरों और मंडपों का उल्लेख भी कवि ने किया है और सब चीज़ें रखने के लिये भंडारघर का भी।

तीन प्रकार की सवारियाँ---रथ (स्यन्दन), चतुरस्रयान और कर्णीरथ---प्रचलित थीं। चतुरस्रयान पालकी थी जिसे कहार उठाते थे। कर्णीरथ केवल स्त्रियों की सवारी का रथ था। बैलगाड़ी का कवि ने उल्लेख नहीं किया है पर निश्चय सामान ढोने का वह इतना प्राचीन साधन, जो आज भी व्यवहृत होता है, रहा ही होगा। लोग स्थल पर घोड़े-हाथियों पर और जल पर नावों में चलते थे। ऊँट, ख़च्चर और बैलों पर लोग माल ढोते थे। इस प्रकार गृहस्थ का घर आवश्यक वस्तुओं से ख़ाली न था।

उपवनों का कुछ उल्लेख ऊपर कर आये हैं, पर यहाँ उद्यान-कारिता के सम्बन्ध में कवि का वर्णन संक्षेप में दे देना अनुचित न होगा। कालिदास के वर्णनों से लगता है कि श्रीसंपन्न गृहस्थ का एक अत्यन्त प्रिय कार्य 'उद्यान-व्यापार' (बाग-बानी) था। दो प्रकार के उद्यानों का उल्लेख कवि ने किया है, राजाओं और श्रीमानों के 'प्रमदवन' का और साधारण सार्व-जनिक 'उद्यानों' का। दोनों प्रकार के बगीचों में फूल के पौधे, लतायें और फलों के वृक्ष होते थे। कवि ने विशेष आकर्षण के साथ घर की बगीची (गृहोपवन) का वर्णन किया है। वात्स्यायन का तो कहना है कि प्रत्येक गृह के साथ उसका अपना बगीचा

होना चाहिए। कालिदास की कृतियों से पता चलता है कि लोग बागबानी से विशेष प्रेम रखते थे। अक्सर नारियाँ (कन्यायें) अपने आप पौधों में पानी डालती थीं। कालिदास की शकुन्तला और सीता दोनों पौधों और लताओं को सींचती हैं। यक्ष-पत्नी ने तो अपने गृह के पार्श्वस्थ मन्दार वृक्ष को पुत्र की भाँति बढ़ाया है, इसी प्रकार रघुवंश में पार्वती ने एक देवदारु को अपना तनय माना है।

बगीचे को सींचने के लिए कुलिया (कुल्या) बना ली जाती थीं, एक प्रकार की पनाली, जिन्हें बराबर चलते रहते वारियन्त्रों (फ़व्वारों) से भरते रहते थे। पेड़ों-पौधों की क्यारी से आधार-बन्ध या आलवाल बना लेते थे और आलवाल को जल से भर देते थे। सींचने के लिए विशेष प्रकार के घड़े को 'सेचनघट' कहते थे। बगीचों में वापी और दीर्घिकायें भी होती थीं। माधवी और प्रियङ्गु आदि लताओं के निकुंज बना कर उनमें शिलापट्ट या बेंचें रख दी जाती थीं। श्रीमान् लोग अपने गृहोपवनों में क्रीड़ा-शैल (कृत्रिम पर्वत) भी बनाते थे। वहीं, घर के अतिरिक्त, शुक-सारिकायें और मोर भी रखे जाते थे। वहाँ के झूलों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। बड़े-बड़े छायादार वृक्षों के नीचे गोल प्रशस्त वेदियाँ बना ली जाती थीं।

सार्वजनिक बगीचे नगरोपवन या बहिरुपवन कहलाते थे और अधिकतर, जैसा नाम से ध्वनित है, नगर से बाहर लगे होते थे। अनेक बार, जैसा उज्जैनी में आज भी है, वे नदी के किनारे-किनारे दूर तक एक से एक मिले चले जाते थे। बगीचा भी गृह का ही रूप धारण कर लेता था। वृक्ष और लता का वहाँ विवाह रचाया जाता था, और रूपवती लड़कियाँ पुष्प-वृक्षों को

नूपुरव्यंजित चरण द्वारा छूकर या मदिराभरे मुँह से कुल्ला कर अशोक और बकुल का 'दोहद' सम्पन्न करती थीं। वृक्ष धीरे-धीरे कलिया उठते थे। उनका फूलना बड़े उत्सव पूर्वक मनाया जाता था। कालिदास और संस्कृत के प्रायः सभी कवियों ने दोहद के सम्मोहक वर्णन किये हैं। उद्यानपालिकायें (मालिनें) उद्यानों की देखभाल के लिए नियुक्त थीं।

३. गान और नृत्य

काव्य और नाटक का वर्णन अन्यत्र कर आये हैं। इन दोनों का गायन और नर्तन से घना सम्बन्ध था। संगीत के अन्तर्गत गाना, बजाना और नाचना तीनों आते थे और नाटकीय अभिनय में रंग-मंच के भी वे विशिष्ट साधन थे। संगीत, विशेषकर गाने, का तो कालिदास ने विशद वर्णन किया है। निःसन्देह वे स्वयं इसके असाधारण जानकार थे। उनकी कृतियों में लौकिक और शास्त्रीय दोनों प्रकार के संगीत का अनेक बार उल्लेख हुआ है।

लौकिक अथवा ग्राम-गीतों का प्रचलन तो साधारणतः स्त्रियों में था। यह सर्वथा मौखिक होता था और इन्हें स्त्रियाँ एकाध वाद्यों की सहायता से, जैसे ढोलक से, या बग़ैर बाजे के ही गाती थीं, अकेली या झुंड बाँध कर। उत्सवों पर जब वे मिल कर गाती थीं, उन्हें एक दूसरे से नये गीत सीखने का प्रायः अवसर मिला करता था। नदी में स्नान करते समय वे गातीं और जल पीट-पीट वाद्य का साहाय्य प्राप्त कर लेती थीं। विवाह में, जैसे आज भी, गाँव के गीत गाये जाते थे। खेतों को रखाने के समय भी लड़कियाँ लौकिक गीत गाती थीं। कालिदास ने धान और ईख के खेत रखाती ईख की छाया में बैठी लड़कियों का राजा

(रघु) की विजय के गीत गाना लिखा है । पर ये गाने राज-प्रशस्तियों तक ही निःसन्देह सीमित नहीं रहते होंगे । उनमें स्थानीय द्वेष-प्रणय, शौर्य, कथाओं आदि के भी विषय निरूपित रहते होंगे ।

शास्त्रीय संगीत का सविस्तर कथोपकथन मालविकाग्निमित्र में हुआ है । उसके छओं सहायकों का भी उल्लेख हुआ है । यद्यपि वे छः सहायक कौन-कौन से हैं इसका पता कवि के ग्रन्थों से नहीं चलता ।

नगर शास्त्रीय (क्लासिकल) संगीत की ध्वनि से मुखरित रहा करते थे । अलका के वर्णन से यह प्रगट है । यक्ष की पत्नी अपने विरह का समय शास्त्रीय ढंग से (मूर्च्छना) वीणावादन के साथ गाकर काटने का प्रयत्न करती है ।

संगीत नाटक आदि को राजा की ओर से संरक्षा मिलती थी । राजा और उसके सामन्त उनमें विशेष रस लेते थे । कुछ के लिये, जो जब वे विषयासक्त हो जाते, संगीत सतत सहचर हो जाया करता था । अग्निवर्ण के संबंध में कालिदास ने कहा है कि उस विषयी नारीप्रिय राजा का प्रासाद सदा मृदंग की ध्वनि से प्रतिध्वनित रहता था । उसके उद्दीपन के अर्थ कोई उत्सव पर्याप्त नहीं होते थे, जब तक कि वह प्रत्येक पिछले ललित अवसर को ललिततर संगीत से लज्जित न कर देता था । मालविकाग्निमित्र में भी रानी राजा के प्रति व्यंग्य करती है कि यदि संगीत-रंग की ही भाँति उसकी रति राजकार्य में होती तो अच्छा होता । ललित कलाओं में, निःसन्देह कवि का संकेत संगीत के प्रति है, इन्दुमती अज की शिष्या थी और अग्निवर्ण तो स्वयं असाधारण 'कृती' था और वारांगनाओं के नृत्य-गान की त्रुटियाँ शुद्ध कर

उनके शिक्षकों को लजा देना था। वर्णन वस्तुत: प्राचीनकालीन राजाओं का है पर निश्चय वस्तु-निरूपण समसामयिक है क्योंकि ऐतिहासिक अज और अग्निवर्ण के काल में संगीतशास्त्र और प्रयोग का इतना विकास असंभव था।

राजप्रासादों में ललितकला के अध्यापन के लिये संगीत-शाला हुआ करती थी, जहाँ अधिकारी शास्त्रज्ञ (सुतीर्थ) संगीत सिखाते थे। उन्हें राजा की ओर से नियमित वेतन मिलता था। वहीं समय-समय पर 'संगीत-रचना' हुआ करती थी और राज-महल की अधिवासिनें अपनी कला, और परिणामत: अपने गुरुओं की, प्रयोग-प्रदर्शन द्वारा व्यक्त किया करती थीं।

समाज में गणिकायें आदि भी थीं जो संगीत का पेशे के रूप में प्रदान करती थीं। पुत्रोत्सव आदि अवसरों पर वे अपने दल के साथ गृहस्थों के घर जाया करती थीं।

कालिदास ने संगीत में प्रयुक्त होनेवाले अनेक बाजों का उल्लेख किया है। वीणा (तन्त्री, वल्लकी, परिवादिनी आदि), वेणु (वंशी), मृदंग (पुष्कर, मुरज), तूर्य (तूरही), शंख, दुन्दुभी (नगाड़ा) और घंटा कवि की कृतियों में अनेक बार बखाने गये हैं। शंख, तूर्य और दुन्दुभी साथ ही युद्ध के भी वाद्य थे। शंख विजय की भी घोषणा करता था।

विक्रमोर्वशी में दिये अनेक प्रकृति के श्लोकों पर गाये जाने-वाले राग का उल्लेख है पर कई कारणों से उन्हें प्रक्षिप्त माना जाता है। अन्यत्र अपने किसी ग्रन्थ में कालिदास रागों का प्रगट वर्णन या उल्लेख नहीं करते।

नृत्य की कला भी, इन ग्रन्थों से प्रगट है, पर्याप्त बढ़ी हुई थी। मालविकाग्निमित्र की परिव्राजिका उसे 'प्रयोगप्रधान'

कहती है, इसी से कवि ने भी अधिकतर उसका वर्णन अभिनय के साथ ही साथ किया है। नृत्य की अनेक शैलियाँ थीं। उनमें से एक शैली 'पञ्चाङ्गाभिनय' कहलाती थी। दूसरी शैली का उल्लेख 'छलिक' अथवा (पाठभेद से) 'चलित' नाम से हुआ है। यह चतुष्पद (चार पदोंवाला गीत) के अनुसार नाचा जाता था। छलिक बड़ा कठिन नाच माना जाता था। टीकाकार काटयवेम कहता है कि इस प्रकार के नृत्य में नर्तक दूसरे का अभिनय (पार्ट) करता हुआ अपने भावों का प्रदर्शन करता है।

गायन की ही भाँति नर्तन की कला भी अधिकतर वारांगनाओं द्वारा ही पिछले काल में जीवित रखी गई। कालिदास की 'नर्तकी' और 'वाणिनी' उस वर्ग की नाचने-गानेवाली नारियों की ओर संकेत करती हैं। इसी प्रकार की देवदासियाँ महाकाल के मन्दिर में भी नियुक्त थीं।

४. चित्र-मूर्त्ति-मृण्मूर्तिकला

कालिदास के ग्रन्थ जिस प्रकार तत्कालीन और प्राचीन भारतीय संस्कृति के विश्वकोष हैं, उसी प्रकार ललितकलाओं के भी वे आकर हैं। चित्रों, मूर्तियों (पत्थर और मिट्टी की) आदि के उनमें अनन्त उल्लेख हुए हैं। उनका यहाँ संक्षेप में वर्णन किया जाता है। पहले चित्रकला का।

कवि के चित्र-संबंधी कुछ संकेत नीचे के पदों में हुए हैं— चित्रशाला, प्रत्यग्रवर्णरेखा, सद्मसु चित्रवत्सु, सचित्राः प्रासादाः, विमानाग्रभूमिरालेख्यानाम्, द्वारोपान्तो लिखितवपुषो शंख-पद्मौ, सुरपतिधनुष्चारुणा तोरणेन, प्रतिकृतिं, मत्सादृश्यं भावगम्यं लिखन्ती, आलेख्य वानर इव, लिखिता सा शकुन्तला,

रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंग, पूरितव्यं.... कदम्बैः, कुसुमरसः....मधुकरः तिस्रस्तत्र भवन्त्यो दृश्यन्ते, चित्रगताया.... आसन्नदारिकां, अपूर्वेयं ....आलिखिता, प्रत्यग्रवर्णरागां, चित्रपरिचयेनांगेषु। ये केवल कुछ और सूचीमात्र हैं वरना कवि ने जिस परिमाण में चित्र-सम्पदा को ध्वनित किया है उसका सांगोपांग वर्णन एक समूची पुस्तक की अपेक्षा करेगा।

अपने वर्णन-क्रम में कालिदास ने कई-प्रकार के चित्रों का उल्लेख किया है—'लैंडस्केप', 'पोर्ट्रेट', 'म्यूरल' आदि सभी के प्रति उसका वर्णन इतना सबल और समृद्ध है कि उसकी समकालीन कला का भले प्रकार से निरूपण हो जाता है। विकास की कैसी चरम स्थिति तत्कालीन चित्रकला प्राप्त कर चुकी थी यह इन संकेतों से प्रगटित है। गुप्तकालीन कवि का इस रूप में उसे प्रदर्शित करना स्वाभाविक ही है क्योंकि ललित कलाओं का जो विकास उस काल हुआ था वह पहले या पीछे कभी नहीं हुआ। अजन्ता, बाघ, सिगिरिया, सितन्नवसल आदि की चित्रनिधियाँ प्रायः उसी काल की हैं और उनकी ओर दबे संकेत करने में कवि चूका नहीं है। भवनों के भीतर बाहर आलेखन, बन्दरों और मानवों की प्रतिकृतियाँ, दूर तक फैले दृश्य, विविध वर्णों, चित्रफलक और ब्रुश आदि अनेकधा उस चित्र सम्पदा को प्रतिध्वनित करते हैं जिनका साक्षी युग का नेता होने के कारण कवि स्वयं था।

चित्रशाला, मालविकाग्निमित्र के प्रसंग में, संगीतशाला का ही एक भाग थी। वहाँ एक प्रकार की पिक्चर गैलरी भी संभवतः थी जहाँ चित्र देखने और सूखने के लिये 'टाँगे' जाते थे। वहीं विविध प्रकार के रंग भी तैयार किये जाते थे। धारिणी

जब वहाँ जाती है तब एक ऐसे चित्र को देखती है जो अभी हाल का बना है और जिसका रंग अभी गीला है, सूखा नहीं।

लगता है कि भित्तिचित्र उस काल बहुत बनते थे। कालिदास ने उनका बार-बार उल्लेख किया है। श्रीमानों और साधारण जन के गृह की दीवारें चित्रों से सदा पुलकित रहती थीं, वैसे यह संभव है कि श्रीमानों के गृहों में शास्त्रीय ढंग से आचार्यों द्वारा चित्र लिखे जाते हों और साधारण गृहस्थों के घरों में गाँव के साधारण चित्रकार ही लाखों चित्र बना देते हों। कुछ अजब नहीं कि मध्यभारत में रहनेवाले, रामगिरि (नागपुर के पास रामटेक) के प्रवासी कवि ने अजन्ता के भित्तिचित्र देखे हों। चित्रकारिता और चित्रों दोनों के प्रति इतना विशद और शास्त्रीय संकेत बिना बने चित्रों को देखे कोई नहीं कर सकता। इतना विशद वर्णन वस्तुतः तभी हो सकता था जब चित्रों के बीच ही आदमी साँस लेता रहा हो। अजन्ता के चित्र ईसवी संवत् के आरंभ के पहले से ही बनते आ रहे थे और सातवीं सदी ईसवी तक बराबर बनते चले गये थे। उनका कवि का समकालीन होना अनिवार्य था। मूरल (भित्तिचित्रों) चित्रों के उल्लेख रघुवंश और मेघदूत दोनों में हुए हैं। उनमें 'चित्रित घरों', 'सचित्र महलों', 'द्वार पर बने शंख और पद्मों' 'चित्रित छतों' का कवि ने वर्णन किया है। पहाड़ों पर बने भवनों के भीतर खिड़की से पैठ दीवार के चित्रों को बादल अपने जल से मिटा देते हैं। सोलहवें सर्ग में एक ऐसे भित्तिचित्र का वर्णन है जिसमें तालाब बना है। उसमें कमलों का बन है। गजराज जब उसमें क्रीड़ा के लिये प्रवेश करता है तब हथिनियाँ उसे कमलनाल प्रदान करती हैं। ठीक इसी प्रकार का चित्र अजन्ता की गुफा नं० १७ में बना

है। इससे अजन्ता के चित्रों और कालिदास की समकालीनता भी स्थापित होती है। यह वर्णन निश्चय असाधारण सुकुमार भाव व्यक्त करता है।

'पोर्ट्रेट' को प्रतिकृति कहते थे। विरहिणी पत्नियाँ पति के चित्र बनाकर अपना समय काटती थीं। मेघदूत का यक्ष स्वयं अपनी पत्नी का चित्र शिला पर गेरु से बनाता है पर उस प्रणय-कुपिता के मान-भंजन के लिये जैसे ही वह उसके पैरों पर गिरा अपना चित्र बनाना चाहता है उसके नेत्र भर आते हैं और वह चित्र पूरा नहीं कर पाता। विक्रमोर्वशी में उर्वशी और मालविकाग्नि-मित्र में मालविका के चित्र का ज़िक्र हुआ है। विक्रमोर्वशी में एक बन्दर के चित्र का भी उल्लेख है। अभिज्ञानशाकुन्तल के विदूषक के वक्तव्य में जिस के बनने की बात कही गई है, उसकी भाव-सम्पदा बड़ी समृद्ध है। उसमें 'रागबद्धचित्तवृत्ति' का आले-खन हुआ है, केशों की ग्रंथि शिथिल करके और मुँह पर पसीने की बूँदें दिखाकर थकान का सफल चित्रण किया गया है। शकुन्तला का जो चित्र दुष्यन्त बना रहा है उसकी अपूर्णता के संबंध में संकेत करता हुआ वह कहता है कि अभी उसे उसमें कई बातें दर्शानी हैं—कानों के ऊपर केशों की ग्रन्थि, गण्डस्थलों का स्पर्श करते कानों में शिरीष के कुसुम और स्तनों के बीच मृणालतन्तु की स्थापना। ख़ाली भूमि को आश्रम के कदम्ब-वृक्षों से भरना है। अन्यत्र शकुन्तला के जिस चित्र का उल्लेख है उसमें वह कर में रक्तकमल (नाल) लिये होठों से दुःशील भ्रमर का निवारण करती हुई खड़ी है।

'पोर्ट्रेट' की ही भाँति 'ग्रूप' चित्रण भी पर्याप्त उन्नति कर चुका था। तीन व्यक्तियों के एक 'ग्रूप' के सभी चित्रों की प्रशंसा एक

स्थल पर हुई है। शकुन्तला एक ग्रूप-चित्र में नवपल्लवधारी आम के वृक्ष के नीचे शिथिल खड़ी है, केश की गाँठ शिथिल हो जाने के कारण केश के फूल गिरे जा रहे हैं। एक और ग्रूप-चित्र में मालविका रानी के पास खड़ी है, अनुचरियाँ चारों ओर से उन्हें घेरे हुए हैं। आगे एक चित्र का अत्यन्त सुन्दर आदर्श प्रस्तुत है। अभी चित्र बना नहीं है पर दुष्यन्त बनाने की तैयारी कर रहा है। कहता है—'मालिनी नदी का चित्र बनाना है। मालिनी की धारा के दोनों ओर हिमालय की पवित्र पहाड़ियों के सिलसिले होंगे। उन पर मृग बैठे होंगे। रेती में हंस-मिथुन चित्रित करूँगा। और इधर आश्रम का वृक्ष होगा जिसकी शाखाओं से बल्कल लटके होंगे और नीचे मृग की सींग से अपना बायाँ नयन खुजाती मृगी होगी।'

कालिदास ने चित्रांकन के लिये आवश्यक सामग्री का भी उल्लेख किया है—शलाका, वर्तिका, तूलिका, लम्बकूर्च, चित्र-फलक, वर्ण, राग, वर्तिकाकरण्डक। शलाका एक प्रकार की पेन्सिल थी जिससे चित्र का पहले स्केच खींचा जाता था। वर्तिका या तूलिका ब्रुश को कहते थे। लंबकूर्च भी ब्रुश ही था, पर लंबा। वर्तिका इसके अतिरिक्त नर्म नोंक की होती थी, कूर्च ब्रुश सा कड़ी कूँची का होता था। चित्रफलक वह बोर्ड था जिसपर चित्र अंकित किया जाता था। वर्ण या राग अनेक प्रकार के थे—लाल, पीले, हरे, आदि। वर्तिकाकरण्डक छोटा सा पेन्ट-बाक्स था जिसमें ब्रुश आदि रखे जाते थे, शायद वर्ण भी।

कालिदास ने कला के एक लाक्षणिक शब्द 'शिथिलसमाधि-दोष' का प्रयोग किया है। इसका अर्थ है एकाग्रता में शिथिल हो जाने का दोष। यह एक सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन करता

है। 'शुक्रनीति' में लिखा है कि कलाकार को अपना चित्र बनाने या मूर्ति कोरने के पहले समाधिस्थ होकर अपने अभिप्राय का ध्यान करना चाहिये। जब अभिप्राय (मोटिफ़) अपने अंग-प्रत्यंगों के साथ मूर्तिमान हो उठे तभी उसे चित्र या मूर्ति में हाथ लगाना चाहिये वरना कलाकार अपना आदर्श पूरा न कर सकेगा क्योंकि उसकी समाधि शिथिल होने के कारण वह अभि-प्राय के सूक्ष्म अवयवों को पकड़ नहीं सका है और उसका प्रयत्न असफल रहेगा।

मूर्तिकला-संबंधी सामग्री भी कालिदास के ग्रंथों में पर्याप्त है यद्यपि समसामयिक मूर्तियों के प्रति उनका निर्देश स्पष्ट और सीधा नहीं, कुछ अप्रत्यक्ष है। फिर भी तक्षण-कला के अनेक लाक्षणिक शब्दों का शैलीगत प्रयोग कवि की उस दिशा में गहरी जानकारी प्रगट करता है।

ऐसा एक शब्द 'उत्कीर्ण' है। उत्कीर्ण करना मूर्तिकला में पत्थर काट कर, उभार कर, दृश्य प्रस्तुत करने को कहते हैं। कुश के प्रति जो अयोध्या की राज्यलक्ष्मी ने अपनी नगरी की दुर्दशा का बयान किया है उसमें स्पष्टतः स्तम्भ पर बनी यक्षी-मूर्तियों का उल्लेख है—

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभि विमुक्ताः।र० १६।१७

"खंभों पर बनी नारी-मूर्तियों के रंग धूल के कारण छूट गये हैं और साँपों की छोड़ी केंचुलें आज उनके स्तनों के उत्तरीय बनी हुई हैं।" इस प्रकार की स्तंभ-मूर्तियाँ कुषाण काल की (पहली सदी ईसवी) बनी सैकड़ों की संख्या में मथुरा और लख-नऊ के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

इसी प्रकार शिव की बारात में चलनेवाली चँवरधारिणी गंगा और यमुना की मूर्तियों का वर्णन कालिदास ने किया है। यह भी समकालीन प्रतीकों से ही लिया गया है। गंगा-यमुना की चँवरधारिणी मूर्तियाँ तभी बनने भी लगी थीं। उसके पहले नहीं थीं। देवताओं की मूर्तियों का उल्लेख कवि ने 'मूर्तिमन्तं', 'प्रतिमा' और 'देवप्रतिमा' आदि में किया है। ब्रह्मा और विष्णु के सम्बन्ध में भी कवि वही प्रतीक, वही लांछन प्रयुक्त करता है जो मूर्तियों के हैं। इसी प्रकार मयूराश्रयी गुह (मूर्ति मथुरा और काशी में), दोहद (स्तम्भों पर), सप्तमातरः (कुषाण-गुप्तकालीन सप्तमातृका मूर्तियाँ), रावण का कैलास उखाड़ना, लीलारविन्द लिये लक्ष्मी, किन्नर और अश्वमुखी (मथुरा म्यूज़ियम), प्रभामण्डल, छायामण्डल, स्फुरत्प्रभामण्डल आदि मूर्तिकला के भी प्रतीक हैं जो आज भी सुरक्षित हैं। कुमार-सम्भव में जो शिव की निर्वात समाधि का वर्णन है वह वस्तुतः बुद्ध की मूर्तियों के अनुकरण में है।

मिट्टी की मूर्तियों का भी उल्लेख एकाध बार कवि ने किया है। शाकुन्तल में भरत के खेलने के लिये रंगे हुए मिट्टी का मोर (वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरः) दिया जाता है। उसके रंग का विशेष बखान (शकुन्तलावण्य) किया गया है। इस प्रकार के हज़ारों मिट्टी की रंगी गुप्तकाल की मूर्तियाँ आज भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार भारतीय कला का भी कवि ने प्रायः सर्वांगीण वर्णन किया है।

५. भवन निर्माण

कालिदास के ग्रन्थों से तत्कालीन भवन-निर्माण पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उन ग्रन्थों मात्र से उस काल के मकान का समूचा स्वरूप खड़ा किया जा सकता है। उल्लेख केवल जहाँ-तहाँ है, अधिकतर केवल सांकेतिक ही, परन्तु तद्विषयक जानकारी के लिये इस प्रकार संकलित की हुई सामग्री भी कुछ कम महत्व नहीं रखती। भवन-निर्माण (आर्किटेक्चर) के लिये कवि ने लाक्षणिक 'वास्तु' शब्द का प्रयोग किया है। रघुवंश में एक समूचे नगर (अयोध्या) के ही फिर से बनने का विस्तृत उल्लेख हुआ है। उस काल कलाकार अपने-अपने संघ बनाकर रहते और काम करते थे। इसी प्रकार के संघों ने अयोध्या का पुनरुद्धार और पुनर्निर्माण किया था। कालिदास इन वास्तु-विशारदों के दलों को 'शिल्पिसंघाः' कहते हैं।

शिल्पिसंघों द्वारा अयोध्या के उस निर्माण में पहले सड़कें बनाई गईं। प्रधान सड़क राजपथ कहलायी। नगर की प्रधान सड़क को राजपथ या राजमार्ग कहते ही थे। वह प्रधान सड़क नगर से बाहर निकल अन्य नगरों की प्रधान सड़कों से मिल जाती थीं। नगर के मध्य में बाजार होता था जिसे 'विपणि' कहते थे। बाज़ार की सड़क के दोनों ओर प्रासादमालायें होती थीं। राजपथ के उस भाग को जो बाज़ार के बीच से होकर गुज़रता था आपणमार्ग कहते थे। बड़े-बड़े नगरों में गगनचुम्बी अट्टालिकायें होती थीं जिनके शिखर अभ्रंलिह अथवा अभ्रंलिहाग्र (बादल चूमनेवाले) कहलाते थे। सुधा (चूना) से लिपी धवल अट्टालिकाओं को सौध, हर्म्य, प्रासाद आदि कहते थे। उसके ऊपर छतें (विमानाग्रभूमि) और अट्ट (छत के ऊपर का कमरा

—अटारी) होते थे। नगर के निकट सार्वजनिक बाग-बगीचे होते थे जिनकी नगरोपवन, नगरोद्यान, बहिरुपवन, पुरोपकण्ठोपवन आदि अनेक संज्ञायें थीं। सुन्दर सोपान मार्गों से सजी वापियों के भी कवि ने अनेक वर्णन किये हैं। नगर में अनेक क्रीडाशैल (विशेषकर श्रीमानों के गृहोपवनो अथवा राजाओं के प्रमदवनों में) सहस्रों यज्ञ-यूप, तोरण, आदि होते थे। नगर प्राकार (शहर-पनाह, प्राचीर) से घिरा होता था। उस प्राकार में अनेक विशाल द्वार (गोपुरद्वार) बने होते थे और प्राकार के चारों ओर गहरी खाई (परिखा) दौड़ती थी जिसे जलसे भर दिया करते थे।

राजप्रासाद अथवा श्रीमानों के विशाल भवनों का प्लान कालिदास की ही सामग्री से बनाया जा सकता है। राजप्रासाद की अनेक मंजिलें होती थीं। उनके भीतर बाहर के दो भाग होते थे। बाहर के भाग में सभागृह, कारागार, अग्निगृह आदि होते थे, आँगन लोगों से प्रायः भरे रहते थे। भीतर के कमरों के 'कक्ष्यान्तर', 'गृहेरहः', 'गर्भवेश्म' आदि अनेक नाम दिये गये थे। अपने 'तोरणों', आलिन्दों (बारजों), आँगनों, सभागृह (दरबार), कारागार, वराम्दों आदि से वे दृढ़ दुर्गों से लगते होंगे। प्रमदवन उनका नज़रबाग होता था। कवि ने महलों के अनेक नाम भी गिनाये हैं, जैसे विमानप्रतिच्छन्द, मेघप्रतिच्छन्द, मणिहर्म्य, देवच्छन्दक। मानसार के इन नामों से विविध प्रकार के भवन जाने जाते थे। विमानप्रतिच्छन्द आठमहला प्रासाद था। मणिहर्म्य (स्फटिक भवन) संभवतः संगमरमर या किसी सफेद पत्थर का होता था जिसका सोपानमार्ग गंगा की लहरों की भाँति श्वेत लगता था और जिसकी छत सुन्दर चमकती रहती थी। इन महलों की सबसे ऊपरी छत को विमानाग्रभूमि कहते थे।

भीतर के ही भाग में स्त्रियों के रहने के कमरे थे जिन्हें अवरोध, अन्त:पुर, शुद्धान्त नाम से पुकारा जाता था। प्रासाद के बागीचे में चिड़ियाघर और पशुशाला भी होती थी। एक में पिंगलवानर (वनमानुस) रखे जाने का उल्लेख हुआ है। एक अन्य प्रकार का ग्रीष्म प्रासाद समुद्रगृह कहलाता था। इसको फ़व्वारों से से घेरकर निरन्तर वारि संचालन द्वारा शीतल रखते थे। राजा इसी के प्रमदवन में ग्रीष्म के दिनों में अनवरत विलास किया करता था। समुद्रगृह का उल्लेख मत्स्य पुराण, भविष्य पुराण और बृहत्संहिता में भी हुआ है। वे सभी उसे विशेष प्रकार का महल कहते हैं। मत्स्य पुराण के अनुसार तो समुद्रगृह सोलह-तर्फ़ा दो मंज़ला मकान होता था।

राजप्रासाद को छोड़ अन्य ऊंचे मकान सौध, और हर्म्य थे। सौध ईंटों से बना, पलस्तर किया, चूने से चमकता धवल प्रासाद था। मानसार के अनुसार हर्म्य सात मंज़िली इमारत थी। विश्वास करना कठिन है कि सात-सात मंज़िलों की भी तब इमारतें होती थीं, पर कम से कम वास्तुशास्त्र की वह प्रामाणिक ग्रंथ मानसार तो निश्चय उसका उल्लेख करता ही है। इनकी छत बाहर निकली हुई वराम्दों के बाहर झुकी होती थी जिससे वर्षा का पानी ढाल से गिर जाय। इस ढाल को बलभी कहते थे। साधारण घर भवन कहलाते थे। यह चौपहला होता था। भीतर आँगन होते थे जिनके भीतरी वराम्दों में भीतर वाले कमरे खुलते थे। भीतर के कमरों में शैय्यागार, भंडार आदि होते थे। बड़े लोगों के घरों में इनके अतिरिक्त क्रीडावेश्म (खेलने का कमरा), तहखाना, छिपा हुआ कमरा होते थे। घर की खिड़कियाँ (वातायन, आलोक-मार्ग, जाल-मार्ग) बाहर सड़क पर

खुलती थीं। घर से बारजा (अलिन्द) निकला होता था। सामने का द्वार मुख कहलाता था और उसके ऊपर की बनावट तोरण या जब तब घड़ियाल के (तोरण) आकार की होती थी।

मकान के साथ लगे बगीचे में दीर्घिका, वापी, कूप होते थे। दीर्घिका लम्बे आकार का तालाब होती थी, वापी (बावली) वर्गाकार होती थी। वापी के जल की सतह तक पहुंचने के लिये सीढ़ियाँ बनी होती थीं। कवि ने दीर्घिका (संभवतः सार्वजनिक उपवन की बाड़ी) और गृहदीर्घिका (प्रमदवन की) में भेद किया है। दीर्घिकाओं में छिपे हुए कमरें भी बने होते थे जिनको 'मोहन-गृह' कहते थे। टीकाकार लिखता है कि इनका उपयोग सुरत या कामभोग के लिये किया जाता था। ये कमर तक ऊँचे जल में बने होते थे और इनकी फर्श ढालनुमा होकर निरन्तर सूखे की ओर उठती जाती थी। ऐसे कमर आज भी जहाँ तहाँ मिल जाते हैं। लखनऊ पिक्चर गैलरी के पास वाजिद अली शाह के तालाब में ऐसे कमरे आज भी देखे जा सकते हैं। प्रमाणतः इस प्रकार के मोहनगृहों वाले तालाब श्रीमानों के ही घरों में होते थे।

सदा चलते रहने वाले फ़व्वारों का भी उल्लेख कवि ने किया है। इसके उछलते जल की बूँदों को गर्मियों में पकड़ने को मोर निरन्तर चेष्टा करते रहते थे। नीचे किसी प्रकार का यन्त्र-बना रहता था जो जल को नीचे से ऊपर फेंकता था। पानी बहकर नालियों द्वारा पेड़ों के आलबालों में पहुंचता और इस प्रकार उपवन को सींचता था। फ़व्वारे के लिये कवि ने 'वारियन्त्र' शब्द का प्रयोग किया है। स्नानागार में किसी यान्त्रिक प्रबन्ध से जलका प्रवाह चालू रखते थे। संभवतः वे एक प्रकार के नल थे

जो यन्त्रधारा या यन्त्रप्रवाह जैसे शब्द सूचित करते हैं। इस प्रकार के कमरे का नाम 'यन्त्रधारागृह' था।

राजाओं के प्रासाद में बाहर बगीचे की ओर घुड़साल या गजसाल भी होते थे जहाँ 'मन्दुरों' से घोड़े-हाथी बँधे रहते थे।

नगर में देवालय (प्रतिमागृह), यशस्तंभ (यूप), रेलिंग आदि भी होते थे। कुषाण-काल का एक यूप मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है। उसे यूप बताता हुआ उस पर एक अभिलेख खुदा है और उसके चारों ओर घूमती हुई अर्गला की आकृति बनी है। यूप स्तम्भ के आकार का ऊँचा चौपहला पत्थर का बना हुआ है, ऊपर से गरदन की तरह झुका हुआ। रेलिंगों के स्तम्भों पर ही नारी-मूर्तियाँ उभार कर बनाई जाती थीं जिनकी कुषाण-कालीन परम्परा बड़ी समृद्ध है और जिनका उल्लेख कालिदास ने अपने 'स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानां' में किया है।

'दरीगृह' और 'शिलावेश्म' से जिन वास्तु-विस्मयों के प्रति कवि ने दूर का संकेत किया है उनमें उन गुफा-मन्दिरों की भी ध्वनि है जो सह्याद्रि नाम की पच्छिमी घाट की पहाड़ियों में कालिदास के पहले कटकर बन चुके थे या कवि के समय भी बनते जा रहे थे। अजन्ता की गुफायें उसी परम्परा में थीं। दक्कन के दरीगृह और पीछे बने परन्तु परम्परा उनकी भी वही है। दरीगृहों के निर्माण में कितना-कितना धन व्यय होता होगा, इसका अटकल आज भी उन्हें देख कर लगाया जा सकता है।

६. आर्थिक स्थिति

कालिदासयुगीन भारत की कल्पना यदि उनके ग्रन्थों के आधार पर की जाय तो संभवतः उसे सर्वथा सही चित्र नहीं कहा

जा सकता क्योंकि एक तो आदर्श युगों के काल्पनिक वर्णन से उसमें रत्नादिकों की चमक आ गई है दूसरे वह चित्र साधारण जनता का न होकर धनियों और श्रीमानों का है। फिर भी उस माध्यम से भी देश की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और जब-तब उनके पीछे की भी झलक मिल जाया करती है। साधारणतः देश की स्थिति समृद्ध जान पड़ती है। देश में बड़े-बड़े नगर थे जिनके भीतर बाहर अनेक उपवन थे, ऊँचे अभ्रंलिहाग्र भवन थे, विविध ऋतुओं में श्रीमानों के वास-योग्य गर्मी जाड़ों के लिए अलग-अलग मकान थे। भूमि सोना उगलती थी, सार्थबाह (कारवाँ) वाणिज्य द्वारा धन 'धारासार' बरसाते थे। आसमुद्र पच्छिम गुप्तों का अधिकार हो जाने से व्यापार में सुविधा हो गई थी। यहाँ इनका कुछ विस्तार से उल्लेख कर देना उचित होगा।

राष्ट्र के धन के स्रोत निम्नलिखित थे। भारत तब भी कृषि-प्रधान देश था और उसकी उर्वर भूमि जनता के आहार का मुख्य साधन थी। राज्य की मुख्य आय भी उसी से होती थी। वार्ता (चारागाह) करोड़ों गायों (गाः कोटिशः) और अन्य मवेशियों की जीवन-रक्षा करती थी। घाटों से भी आमदनी प्रचुर होती थी और व्यवसाय पर कर के ज़रिये राज्य संपन्न होता था। राज्य की ओर से वनों में हाथी पकड़े जाते थे जिनके दाँतों का व्यापार में पर्याप्त मूल्य होता था और खानों से सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुयें, हीरे, संगमरमर आदि निकाले जाते थे। नदियों के मुहानों और समुद्र से मोती, मूँगे आदि आते थे। राज्य उससे शासन की व्यवस्था, युद्ध-अभियान, दान, निर्माण आदि करता था।

खेती सिंचाई की सहायता से अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न

करती थी। जौ, गेहूँ, धान, ईख, तिल, केसर का परोक्ष-अपरोक्ष वर्णन तो कवि ने ही किया है। धान की शाली, कलमा, नीवार आदि कई क़िस्में बोई जाती थीं। ईख से गुड़, चीनी तैयार किये जाते थे, सिन्ध और वक्षु के तीर केसर फूलती थी। मध्यभारत के माल के नये जुते खेतों से उठती सुरभि का बखान कवि ने किया है। खेत की जुताई बैलों द्वारा होती थी, अन्न का भार, बैल, ख़च्चर, ऊँट आदि ढोते थे। हरे चारागाहों में भेड़ें चरती थीं जिनके ऊन (पत्रोर्ण) से जाड़ों में तन ढँकता था।

लोगों के पेशे अनेक थे। कृषि के अतिरिक्त धातुओं का काम होता था। सुनार, लोहार, बढ़ई थे, व्यापारी, आयुधजीवी, नाविक, धीवर, जाल से जीने वाले, बहेलिये आदि थे। राजकीय नौकरी भी अनेक लोग करते थे। शिल्पियों के अपने-अपने संघ थे। भवन-निर्माण करने वाले राज, पुरोहित, नट, नर्तकियों, गायकों, मालिनों सभी का महाकवि ने उल्लेख किया है।

कवि ने ऐसी अनेक मणियों के नाम व्यवहृत किये हैं जो खानों से निकाली जाती थीं। इनमें से कुछ संभव है व्यापार द्वारा भी देश में पहुँचती हों, पर इनका प्रयोग लोग करते थे। इनके नाम हैं पद्मराग (लाल), पुष्पराग (पोखराज), महानील या इन्द्रनील (नीलम), मरकत (पन्ना), वैदूर्य, स्फटिक, मणिशिला (संगमरमर)। सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त मणियों के साथ कल्पना का अधिक सम्बन्ध है, यथार्थ का कम लोगों का विश्वास था कि सूर्यकान्त मणि सूर्य की किरणों के स्पर्श से आग की लपटें फेंकने लगती हैं और चन्द्रमणि चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श होते ही शीतल जल की बूँदें टपकाने लगती हैं। इनके अतिरिक्त जिन धातुओं को आकरों से निकालते और शुद्ध करके उपयोग में लाते

थे वे थीं सोना (जिनका कवि ने सुवर्ण, हेम, हिरण्य, कनक, कञ्चन, द्रविण आदि नामों से उल्लेख किया है), रजत (चाँदी), ताम्र (ताँबा) और लोहा (अय)। इनके अतिरिक्त कुछ और पदार्थ भी थे जो खानों या पर्वतों से निकाले जाते थे, जैसे सिन्दूर, मनशिल (मनः शिला), गेरु (गैरिक, धातुराग, धातुरस, धातु-रेणु), और शैलेय (शिलाजीत)।

इन खनिजों और पार्वतीय पदार्थों के अतिरिक्त जंगलों और सागर से भी मूल्यवान् वस्तुयें निकलती थीं जिनका व्यापार में अथवा लोगों के जीवन में महत्व का स्थान था। वन्य वस्तुओं के नाम ये हैं——मृगचर्म, विशेषकर कृष्णसार (काला मृग, रुरु) मृग का, अन्य पशुओं के चर्म भी, मुश्क (कस्तूरी, मृगनाभि), लाक्षा (लाख), चँवर जो तिब्बती सुरागाय तथा बैलों की पूँछ से बनते और राजाओं तथा देवताओं को डुलाये जाते थे। कलिंग और कामरूप (उड़ीसा और आसाम) के वनों में हाथी बहुत होते थे, संभवतः अंग (भागलपुर) में भी। उनको मारना साधारणतया राजनियम के विरुद्ध था। जीवित वे सेना को शक्ति प्रदान करते थे और मर कर अपने दाँतों के मूल्य से स्वामी को ऋद्ध करते थे। जंगल की लकड़ी जलाने के काम तो आती ही थी उससे समुद्र में चलने वाले जहाज और व्यापारार्थ नदियों में चलने वाली नावें, रथ, बैलगाड़ी, पालकी और समाज की आवश्यकता की हज़ार चीज़ें बनती थीं। हिमालय के वनों से शाल और चीड़ की लकड़ी प्राप्त होती थी और साथ ही गोंद और क्षीर भी जिनका अनेक प्रकार से औषधि, तेल आदि बनाने में उपयोग होता था। मलय की उपत्यका में इलाइची, लौंग, तेजपात, काली मिर्च आदि गरम मसाले अनन्त मात्रा में उत्पन्न होते थे। इन

मसालों की विदेशों में बड़ी माँग थी। बड़ी कीमत में रोम के निवासी इनको ख़रीदते थे। उन्हीं दिनों अलारिक ने जब रोम की विजय की थी तब समृद्ध रोमनों के अनुनय पर नगर का विध्वंस उसने इसी शर्त पर रोक दिया था कि नगर उसे तीन हज़ार पाउण्ड काली मिर्च देदे। उतनी मिर्च देकर रोम नगर का सर्वनाश रोका गया। इस प्रकार भारतीय मिर्च ने रोम नगर की ठीक तभी रक्षा की जब कालिदास यहाँ लिख रहे थे। मलयस्थली पर ताम्बूल-वल्ली (पान की लता) पेड़ों पर छाई रहती थी। पान की देश में बड़ी खपत थी। मलय से चन्दन की लकड़ी भी आती और विदेशों में बड़ी कीमत में बिकती थी। समुद्र के तट पर नारियल, सुपारी और ताड़ों की बहुतायत थी। इनके जंगलों से हो गये काले तट का कवि ने उल्लेख किया है। इनके फलों से भी पर्याप्त धन प्राप्त होता था। समुद्र को रत्नाकर कहा गया है। उससे भी निकली अनेक चीज़ें देश-विदेश के व्यापार में खपती थीं। पाण्ड्य देश (दक्षिण भारत) में ताम्रपर्णी के मुहाने से मोतियों की अच्छी राशि प्रति वर्ष निकल आती थी। रोम में इनकी भी बड़ी माँग थी। वहाँ के श्रीमान छैले और विलासवती नारियाँ किसी स्थिति में मोती ख़रीदना बन्द करने को तैयार न थीं। मोती नारियाँ अपनी माँग पर, केशों में, वस्त्रों में, जूतों पर सर्वत्र प्रयोग करती थीं। रोम की सिनेट ने अनेक प्रकार की घोषणायें कीं, क़ानून बनाये, कीमत से दुगने-तिगने कर लगाये पर उन छैलों और रोमन नारियों ने मोती, मलमल और गरम मसाले ख़रीदने से हाथ नहीं खींचा। भारतीय व्यापार की उन्होंने ही इस प्रकार रक्षा की। मोतियों के अतिरिक्त सीपी और शंख भी अनन्त संख्या में सागर से प्राप्त होते थे।

वाणिज्य से 'धारासार' धन बरसने की बात जो कवि ने लिखी है वह व्यापार की तीव्रता को प्रगट करती है। शाकुन्तल में सार्थवाह के सम्बन्ध में जो राजा ने नीति बरती है वह सौदागरों के प्रति राजा की उदारता और सम्मान का प्रमाण हैं। व्यापार जल और थल दोनों राहों से होता था। रघु ने जल का मार्ग छोड़ कर स्थल का चुना था, इससे प्रगट है कि फ़ारस भी लोग अधिकतर जलमार्ग से ही जाते थे। चीनी यात्री फ़ाह्यान दक्षिण भारत, सिंहल, जावा आदि होता हुआ चीन गया था। उसके वर्णन से प्रगट है कि किस प्रकार वह सामुद्रिक राह सदा चलती रही थी। उन्हीं दिनों विशेषकर बाली, जावा, सुमात्रा आदि के द्वीप भारतीयों के अधिकार में आये थे और उनसे सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध के अतिरिक्त हमारा व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ था। उन द्वीपों से लौंग आदि तो आती ही थी, वे पूर्वी देशों के साथ हमारे वाणिज्य के लिये आते-जाते जहाज़ों के टिकाव भी थे। और विशेषकर पच्छिमी देशों के साथ भारत का सामुद्रिक व्यापार तो बहुत प्राचीन काल से चलता आ रहा था, कालिदास के समय से भी पहले से। एक ग्रीक वणिक की लिखी व्यापार की पुस्तक (जो पहली सदी ईसवी की है—परिप्लेस आफ़ द इरिथ्रियन सी) में उन बहुसंख्यक वस्तुओं की तालिका दी हुई है जो वाणिज्य के सिलसिले में भारत और पच्छिमी देशों के बीच समुद्र की राह आती-जाती थीं। पच्छिमी समुद्रतट पर भरुकच्छ (भड़ोच), सूर्पारक (सोपारा) और कल्याणी (कल्यान) के प्रसिद्ध बन्दर थे। इन सभी बन्दरों से फ़ारस की खाड़ी में जहाज़ आते-जाते थे। दूर जाने वाली सड़कें महापथ कहलाती थीं। वनों के बीच होकर जाने वाले ये राजपथ सदा

ख़तरे से ख़ाली भी न रह पाते होंगे। कारवाँ, जो इनकी राह चलते थे, अनेक बार लुट भी जाते थे। राजा को इन कारवों (गताध्वा वणिग्गण:) के लुटने की रिपोर्ट कर दी जाती थी (चाटव्यन्तरे निविष्टो गताध्वा वणिग्गण:—मालविकाग्निमित्र, पृ० ९८; १, १७)। कारवाँ के लिये साधारण शब्द तो 'सार्थवाह' था, पर कभी-कभी इसका प्रयोग सार्थवाह अथवा कारवाँ के स्वामी सेठ या उसके साथ जाने वाले अन्य वणिकों के अर्थ में भी होता था। शाकुन्तल में इस प्रकार के एक सार्थवाह का उल्लेख हुआ है जो समुद्रगामी व्यापार करता था और तूफ़ान में जहाज़ नष्ट हो जाने से डूब गया था (नौव्यसने विपन्न:)। उसका विपुल धन राजकोष में जा रहा था पर बड़े परिश्रम से पता लगाने पर जब राजा ने जाना कि सेठ की पत्नियों में से एक गर्भवती है तो उसने वह सारा धन उस शिशु के लिए छोड़ दिया। देशी व्यापार के महापथ का केन्द्र उज्जयिनी थी। सारे रास्ते उधर से ही होकर जाते थे। यह कुछ अकारण नहीं था कि कवि के यक्ष ने अपने मेघदूत को सहज राह छोड़ घुमा कर उज्जैनी भेजा। पेरिप्लस ने भी उज्जैनी का विशिष्ट मंडी के रूप में उल्लेख किया है। समुद्र से आने वाली और स्थल से बाबुल आदि पच्छिमी एशिया जाने वाली दोनों राहें इसी उज्जैनी में समाप्त होती थीं।

यातायात की वस्तुओं का भी यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। विदेशों से भारत आने वाली चीज़ें एक चिनांशुक, रेशमी कपड़ा, था जो चीन से आता था। अधिकतर उसकी ध्वजायें बनती थीं। कालिदास ने ईरानी और ग्रीक लड़ाकों को अश्वसाधन कहा है। वे घोड़ों पर चढ़ कर लड़ते थे। कालिदास ने जिन 'वनायु' तुरगों का उल्लेख किया है वे उसी

पच्छिम की दिशा से अरब से आते थे। अरबी घोड़े आज भी अपनी अच्छी नस्ल के लिये मशहूर हैं। पेरिप्लस ने तो उधर से भारत आने वाली कितनी ही वस्तुओं का उल्लेख किया है पर उनकी ओर यहाँ संकेत करना विषयान्तर होगा। उस दिशा से यवनियाँ (ग्रीक और अन्य ईरानी आदि नारियाँ) भी आती थीं। उनकी तिज़ारत भी ख़ासी थी। वे ग़ुलाम बना कर पच्छिम से लाई जाती थीं और अपने देश में उनकी खपत होती थी। गुप्त, पाण्डच आदि राजाओं के अन्तःपुरों में उनकी आवश्यकता होती थी। वे उसकी और राजा की रक्षा करती थीं। राजा की तो वे शस्त्रधारिणी भी होती थीं और शरीररक्षक के रूप में सदा उसके साथ रहती थीं, आखेट के समय विशेषकर। कौटिल्य ने सोकर उठते समय राजा के लिये उनका दर्शन शुभ और आवश्यक माना है।

बाहर जाने वाली वस्तुओं में मोती, मलमल और गरम मसालों का ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है। मलमल, जिसकी रोम में इतनी खपत थी और जिसकी ख़रीद के कारण वहाँ गृहयुद्ध सा खड़ा हो गया था, इतनी महीन बनती थी कि कालिदास के शब्दों में 'निःश्वासहार्य' (साँस, फूँक, से उड़ा दिये जाने योग्य) होती थी। इसी मलमल को उसी अर्थ में मुग़ल 'बफ्त हवा' कहते थे। पेरिप्लस ने यहाँ बाहर जाने वाले माल की भी तालिका दी है जो अप्रासंगिक होने से यहाँ नहीं दी जाती। इतना कह देना पर्याप्त होगा कि उसने भी मोती, मलमल और गरम मसालों के बाहर भेजे जाने की बात लिखी है। उसकी तालिका की दो वस्तुएँ और उल्लेखनीय हैं, हाथीदाँत और कछवे की खाल। गजदन्त को तो कवि ने भी सराहा है।

देश के भीतर भी वाणिज्य निरन्तर माल एक सिरे से दूसरे

सिरे तक ले जाता रहा होगा। सभी माल जो हिमालय, विन्ध्य, कलिंग, कामरूप, मलय आदि के वनों अथवा देश के विविध स्थानों में उपलब्ध होते थे सर्वत्र पहुँचा दिये जाते थे। अधिकतर देश पर गुप्तों का साम्राज्य स्थापित हो जाने के कारण बीच की चुंगी भी समाप्त हो जाने से माल को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने में व्यापारियों को सुविधा होती होगी और चुंगी न लगने के कारण चीज़ों की कीमत भी अधिक न बढ़ पाती होगी। नगरों की 'विपणि' (बाज़ार) माल बेचते-ख़रीदते लोगों से भरी रहती थी। आपणमार्ग (बाज़ार की बड़ी सड़क) के दोनों ओर दूकानें माल से ठँसी रहती थीं।

ऐसे समृद्ध व्यापार में सबसे आवश्यक वस्तु उसे संभव कर सकने वाले सिक्के होते हैं। गुप्तों के सिक्के जितने सुन्दर और तोल आदि में बराबर होते थे उतने भारत में पहले कभी नहीं बने थे। कालिदास ने राजा की आय के रूप में सिक्कों के आने और गिने जाने (अर्थजातस्य गणना) का उल्लेख किया है। गुप्तकाल में सोने के दो प्रकार के सिक्के—सुवर्ण और दीनार—प्रचलित थे। कालिदास ने उनमें से एक सुवर्ण का उल्लेख किया है। इसी प्रकार मानदण्ड और तुला के प्रति कवि के संकेत से व्यापार-सम्बन्धी इन दोनों आवश्यक वस्तुओं का हवाला मिल जाता है।

व्यापार में चलने वाली अनेक कलाओं का भी कवि ने यथास्थान संकेत किया है। धातुओं में काम करने वाले, लगता है, देश में एक से एक कलावन्त थे। सुनार सुन्दर से सुन्दर गहने उस काल के शिष्ट संस्कृत नागरिकों के लिए प्रस्तुत करते थे। आभूषणों के सम्बन्ध में गुप्तों और कालिदास के काल से बढ़ कर

कभी इतनी सुरुचि नहीं बरती गई। जिस मात्रा में कालिदास के लिखे अनुसार लोग आभूषणों का प्रयोग करते थे—बहुलता और विविधता दोनों में—उसे देखते उस काल के शिल्पियों की भारी संख्या में आवश्यकता रहती होगी और फिर भी शायद उन्हें दम मारने को फ़ुरसत न होती होगी। वैसे तो रत्नों के जड़ाव और सोने आदि की नक्क़ाशी में डिज़ाइन और फ़न की सदा ही आवश्यकता पड़ती होगी पर मेखला (करधनी) की बनावट में उनकी विशेष कुशलता परखी जाती थी। कालिदास ने उसके अनेक प्रकारों और विविध पर्यायों का प्रयोग किया है। इनमें से कुछ, जो वस्तुतः बहुत हैं, मथुरा, और लखनऊ के संग्रहालयों में कुषाण-गुप्त-कालीन मूर्तियों पर देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार केयूर (भुजबन्द) की भी अनेक डिज़ाइनों का कवि ने उल्लेख किया है। तपाया हुआ सोना पीट कर कभी सादे कभी अनेक रूपों के रत्नजड़े भुजबन्द बनाये जाते थे। कानों में लटकने वाले कुण्डल, फूल, बाली, खिले या सम्पुट कमल और उसकी कली की आकृति के बनते थे। अँगूठियों की भी स्वाभाविक ही अनेक डिज़ाइनें सुनार बनाया करते थे। सर्पाकृति वाली एक प्रकार की अँगूठी का मालविकाग्निमित्र में उल्लेख हुआ है। उन पर नाम खुदवा रखने की भी प्रथा थी। इनके अतिरिक्त सुनार और अन्य रत्नों के कारीगर हीरा आदि रत्न काटते, चमकाते, छेदते और स्वर्ण आदि में जड़ते थे। उनका भी उल्लेख कवि ने अनेक बार अपने 'रत्नानुबिद्ध' 'अनाबिद्धं रत्नं'' 'संस्कारोल्लिखित' आदि प्रयोगों में किया है। उन पर रेखायें खींच कर चमकाने (उल्लिखित) का काम भी होता था। हीरा निकालने के बाद उसको साफ़ करते और काटते थे। इस प्रकार हीरे और अन्य

मणियों का संस्कार होता था। सुनारों की ही भाँति लुहारों का वर्णन भी कवि के ग्रन्थों में मिलता है। वे लोहे को गर्म करके पिघलाते और उससे फ़ौलाद (अयोघन) बनाते थे। अयोघन हथौड़े का नाम भी था क्योंकि इसमें पिघलाये लोहे की मात्रा और संघात विशिष्ट मात्र में होते थे। जुलाहों के सूत कातने और कपड़ा बुनने की कुशलता तो इसी से सिद्ध है कि उनके बनाये कपड़े फूँक से उड़ा दिये जा सकते थे। मूर्तिकारों और वास्तु-शिल्पियों का उल्लेख अन्यत्र सविस्तर कर आये हैं। संगीत-वाद्यों के निर्माता कलावन्त भी देश में अनन्त संख्या में निश्चय रहे होंगे।

इस प्रकार संख्या और विविधता में संपन्न होने के कारण कारीगरों के अनेक संघ बन गये थे। कालिदास ने रघुवंश में अयोध्या-नगरी का निर्माण करने वाले राजों के संघ (शिल्पि-संघाः) का उल्लेख किया है। उनके निरन्तर कार्यलग्न शिल्प-कर्म का भी कवि ने विशद विवरण दिया है। 'श्रेष्ठी' इसी प्रकार के 'नैगमों' अर्थात् 'श्रेणियों' (गिल्ड) का प्रधान होता था। विक्रमोर्वशी में नैगमों और शाकुन्तल में श्रेष्ठी शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में हुआ है। दोनों नगर के शासन में अपना विशिष्ट स्थान रखते थे। नैगमों के संघों ने तो कालिदास के पहले सिक्के भी जारी किये थे। कुमारगुप्त (द्वितीय) और बन्धुवर्मा के समय के मन्दसोर वाले अभिलेख में एक ऐसे ही रेशमी वस्त्र बुनने वाले जुलाहों के संघ का उल्लेख हुआ है जिन्होंने अपनी कला से अर्जित विपुल धन से वहाँ सूर्य का अनुपम मन्दिर बनवाया था। यही जुलाहे उन महीन वस्त्रों के बुनने वाले थे जिनके विरुद्ध रोम के इतिहासकार प्लिनी ने आग उगली थी।

उसी अभिलेख में उन्हीं जुलाहों के बनाये रेशमी वस्त्र का अत्यन्त कुशलतापूर्वक विज्ञापन हुआ है। अभिलेख कहता है—

तारुण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहारस्ताम्बूलपुष्पविधिना समलंकृतोऽपि।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदग्र्यां यावन्नपट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते॥

"यौवन और कान्ति से युक्त, स्वर्णहार, ताम्बूल, पुष्प आदि हज़ार प्रसाधनों से सुसज्जित भी नारी संकेतस्थान पर तब तक अपने प्रिय से नहीं मिलने जाती जब तक कि वह इन जुलाहों के बनाये वस्त्रों का जोड़ा तन पर नहीं धारण कर लेती।" विषयान्तर होते भी स्थल की प्रासंगिकता और सौन्दर्य को देखते उसे उद्धृत करने का लोभ संवरण न कर सका। यद्यपि श्लोक कालिदास का नहीं है पर प्रायः उसी काल का है।

उस काल के गुप्त अभिलेखों से समसामयिक बैंक-कार्य पर प्रकाश पड़ता है। श्रेणी, जो तब बैंकों का कार्य करती थी, धन लेकर उसके ब्याज से मूलधन प्रदान करने वाले के बताये काम को सदियों करती रहती थी। मूलधन को लाक्षणिक रूप से 'नीवी' कहते थे। धन को किसी के पास बैंकवत् लौटा लेने की ग़रज़ से रखना 'निक्षेप' या 'न्यास' कहलाता था। कवि ने दोनों का प्रयोग किया है, निक्षेप का कुमारसम्भव में और न्यास का शाकुन्तल में।

७. धार्मिक जीवन

कालिदास का युग गुप्तों का युग है, वह युग जो नये सिरे से देश और समाज को एक नई चेतना, नया जन-विश्वास, नई निष्ठा, पूजा के नये प्रतिमान दे रहा था। जैसे सभी अन्य विषयों में वह युग प्रयासों की परिणति का था और इस रूप में एक नये

कृषिफल का खलिहान बन गया था, वैसे ही धार्मिक क्षेत्र में भी उस युग में एक नये जीवन का जन्म हुआ था। अनन्त निधि की जैसे गाँठें खुल पड़ी थीं।

कुषाण-काल से ही अनेक देवताओं की मूरतें बनने लगी थीं और गुप्त-काल तक पहुँचते-पहुँचते उनकी कोई सीमा नहीं रह गई थी। तैंतीस कोटि देवताओं का पौराणिक विश्वास मूर्ति धारण कर रहा था। यदि यह संख्या देवताओं की वैयक्तिकता को अभिव्यक्त नहीं करती तो कम से कम उनकी सम्मिलित संख्यातीतता की तो निश्चय द्योतक है ही। महायान के उदय के साथ ही बौद्ध और जैन धर्मों में जो मूर्तियों की बाढ़ आई वह उन्हीं तक सीमित न रह सकी। अपने बुद्ध को सभी देवताओं से ऊपर करने की जो उन्होंने ब्राह्मण देवताओं को बुद्ध के पार्षदों, अनुचरों आदि के रूप में व्यक्त किया तो उनकी हीनता से चाहे तथागत का गौरव बढ़ा हो या नहीं पर उन अनन्त देवताओं की सत्ता निः-सन्देह असन्दिग्ध हो गई। शीघ्र वे बुद्ध के प्रति अपने कायिक दासत्व से मुक्त हो गये, सर्वथा हिन्दू धर्म के, अपने। संघ के रूप में एक साथ, न कोई किसी से छोटा न बड़ा। हाँ, एक समान सेनानी और रक्षक, उनके राजा के रूप में, इन्द्र निश्चय मिला यद्यपि वह देवराज आदि स्वामी-संज्ञा विभूषित इसलिए नहीं हुआ कि उस काल उसकी अपनी कोई सत्ता अन्य देवताओं से अधिक थी बल्कि केवल इसलिए कि वह बीती प्राचीनता में सन्देहातीत प्रधान रह चुका था। अब तक वैदिक काल से इन्द्र विशेष शक्तिमान माना जाता रहा था, उसी की सब से अधिक पूजा होती आई थी और अब वह नाममात्र को देवराज था। उसका स्थान तो प्रायः सम्मिलित रूप से त्रिमूर्ति ने ले लिया था, ब्रह्मा-विष्णु-महेश ने।

विष्णु ने ही उसे अधिकतर उसकी प्राचीन पूज्य सत्ता से च्युत किया था। दानवों और असुरों पर वज्र मारने वाला इन्द्र अब शिथिलहस्त हो गया था। दानव शत्रु अब उसे अपनी ही मार से जर्जर कर देते थे। वह नगण्य हो गया था। प्रत्येक आसुर आक्रमण पर उसे और उन देवताओं को, जिनकी रक्षा उसके कर्त्तव्य की बात थी, रक्षा के उपाय सोचने पड़ते थे। और जो भी उपाय किये जाते थे वे उसकी शक्ति से बाहर होते थे और उन्हें या तो विष्णु सम्पादन करते थे या शिव। नये नये दैत्यों को मारने के लिए अब बराबर विष्णु अवतार लेने लगे थे, या शिव उन्हें अपनी माया से निस्पन्द करने लगे थे। पुराणों में जब जब दैत्य-नाश की आवश्यकता हुई इन्द्र तो विजयसन्दिग्ध हो हाथ पर हाथ धर कर बैठ गये और विष्णु ने झट अवतार लेकर दैत्य का संहार कर स्थिति प्रकृत कर दी। गीता का श्लोक—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

अब इस युग में फला जब पुरानी कथायें बदल कर, नये रूप में ढाल कर, विधिवत् संपादित कर, फिर से पुराणों में कही गईं और जहाँ सदा पालनकर्ता के रूप में विष्णु ने अवतार ले-लेकर लोक-वेद की रक्षा की। अवतारों की एक परम्परा ही बन गयी, दस, फिर चौबीस। इनमें इन्द्रादि को कहीं स्थान न मिला। विष्णु के सामने वह प्राचीन देवराज अकिंचन बन गया। और उस युग के सांस्कृतिक प्रतिनिधि कालिदास ने जब अपना कुमार-सम्भव रचा तब तक उसकी वह स्थित हो गई थी कि वह भी अन्य

देवताओं के साथ सधारण बन कर ब्रह्मा की शरण में गया क्योंकि तारक असुर को मारना उसके बस की बात न थी। उसको अब कामदेव आदि का मुँह ताकना पड़ता था। अब तक जो देवताओं की अनन्त संख्या बन गई थी वह निःसन्देह एक सेना ही बन गई थी, देवसेना, पर उसका संचालन अब देवराज नहीं कर सकता था, कोई नई शक्त ही कर सकती थी जिसे अब रूप धारण करना था। उस नई शक्ति को, देवसेना के उस सेनानी को, उत्पन्न किया उस शिव ने जिसके अनुयायी शिश्नपूजकों पर कभी इन्द्र ने वज्र मारे थे और वह जो उत्पन्न होता है विलास की हीनता में तप की पुंजता में होता है। सहस्रनेत्र इन्द्र की विलासिता से वह सर्वथा दूर है, विपरीत, विवाह तक नहीं करता। उसकी रति देवसेना तक ही सीमित रहती है और नाम चाहे उसके जितने भी रहे हैं देवसेना के लिए वह 'सेनानी' मात्र है। इसी विधि से स्थिति को सर्वथा बदल कर, पूर्णतः क्रान्ति लाकर, चिर-प्रतिष्ठित मौर्यों के शासन का अन्त कर उनके अन्तिम वंशधर बृहद्रथ को मार पुष्यमित्र शुंग ने एक नये शासन का आरंभ किया था और सेना से अपना अविच्छिन्न संबन्ध कायम कर आमृत्यु अपने को 'सेनापति' कहा था। सो अब अव्वल तो ऋग्वेद के इने-गिने देवताओं की संख्या अनन्त हो गई थी, दूसरे इन्द्र के स्थान पर उनका शासक कोई और हो गया था। बची-खुची वैदिक उपासना पर यह अन्तिम पटाक्षेप था। इन्द्र का स्मरण केवल अथर्ववेद और ऐतरेयब्राह्मण के मंत्रों के साथ उसकी याद राज्याभिषेक और यज्ञ के समय की जाती थी, अनुष्ठान के आचारवश, विश्वासवश नहीं। हाँ, फिर भी वह और उसका शुद्ध वैदिक देव-परिवार सर्वथा नष्ट नहीं हो गया, बना रहा,

पर उपेक्षित, विष्णु के सेवक-सा। इन्द्र कुछ काल से कला के अभिप्रायों (मोटिफ़) में बुद्धादि की मुसाहिबी ही करता आया था, इससे विष्णु का पार्षद बनते भी उसे किसी प्रकार की असुविधा न हुई। सो उस नये देव-विधान के धर्मशास्त्र लिखे पुराणों ने और यह युग बना ब्रह्मा-विष्णु-शिव की प्रधानता में देवसेना का युग।

उसी पुराण-परम्परा का, उस देवसेना का परम संयोजक साहित्य में पहला महाकवि कालिदास हुआ। उससे पहले वह पुराण-सम्पदा न रामायण के कर्ता वाल्मीकि को मिली थी, न जय और भारत के रचयिता व्यास को, न बुद्धचरितकार अश्वघोष को, न स्वप्नवासवदत्ताकार भास को। जब तक आदमी एक ही देवता में केन्द्रित रहता है वह और उसके देवता दोनों असहिष्णु और प्रचण्ड होते हैं पर उसी की आस्था जब अनेक देवताओं में वितरित हो जाती है, उसका सारा कठमुल्लापन नष्ट हो जाता है, वह और उसके देवता दोनों सहिष्णु हो जाते हैं। वह किसी धर्म का नहीं होता, सब धर्म उसके हो जाते हैं,वह किसी देवता का नहीं होता, सारे देवता उसके हो जाते हैं। वह सब के प्रति उदारबुद्धि होता है और उसका देवता भोलानाथ। कालिदास वह उदारचेता सहिष्णु आस्थावान् है जिसके सारे धर्म अपने हैं। विष्णु के कुल की कथा रघुवंश में लिखने चलता है, पर उसका आरंभ शिव की स्तुति से करता है, कुमारसम्भव में शिव-सम्बन्धी प्रबन्ध लिखता है पर आरंभ अनेकानेक देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों, विद्याधरों, यक्षों, किन्नरों के आवास हिमालय के वर्णन से करता है और उसमें शिव के प्रभुत्व के पहले ब्रह्मा के प्रति देव-प्रार्थना का पच्चर ठोंक देता है। पीछे के तुलसी की तरह जो राम के तो भक्त

थे, परन्तु शिव की आराधना करते थे, राम का कथा-प्रबन्ध रामचरितमानस लिखा, पर उसका आरंभ किया शिव की घनी स्तुति से ।

वही कालिदास उस युग के अभिराम असाधारण प्रतिनिधि पुराणों और उनकी देव-सम्पदा के धनी, उसी प्रकार इतिहास में उस सम्पदा के प्रवर्तक गुप्तों की सहिष्णुता और आचार के प्रतिनिधि जिस उदारता से देववर्ग को अथक रूप से निरावरण करते हैं उसकी विविधमयी पर सूक्ष्म प्रतीकतः झलक नीचे के पृष्ठों में है। आज का हिन्दू समाज उसी गुप्त-युग का विकास नहीं प्रायः दर्पण है, उसी कालिदास की आस्था का धनी, उन्हीं पुराणों का अध्येता, उन्हीं स्तोत्रों का गायक जिनको कवि के युग ने रचा था, उन्हीं देवताओं का पूजक जिन्हें उस युग ने गढ़ा था—कालिदास-सा ही आस्थावान, उदार, सहिष्णु ।

कवि ने जिन वैदिक और पौराणिक देवताओं का उल्लेख किया है वे वैदिक और पौराणिक देवता निम्नलिखित हैं । वैदिक—इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, यम, त्वष्ट्रा, द्यावा-पृथिवी, रुद्र और विष्णु । इनमें अग्नि और द्यावा-पृथिवी को छोड़ शेष सभी पौराणिक विधि से अभिव्यक्त हुए हैं । अब वे प्रकृति के अवयव न रहे, मानवों के परिचित बन गये, पर ऐसे जिन्हें वह परम्परावश मानता भर है, उनसे किसी मनोरथ-पूर्ति की विशेष आशा नहीं रखता । वैदिक देवता के रूप में विष्णु का जो सूर्य से सम्बन्ध था, वह अब नहीं रह जाता, अब उसकी अपनी नई स्वतंत्र सत्ता है, जो महावराह, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि के रूप में व्यक्त होती है । नई परम्परा के प्रधान देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु, शिव (और तीनों की सम्मिलित देह त्रिमूर्ति) कुबेर, स्कन्द, शेष, लांगली

(बलराम), मदन और लोकपाल। इनके साथ ही जिन देवियों का कवि ने उल्लेख किया है वे हैं वैदिक—शची (इन्द्र की पत्नी), सरस्वती (अथवा भारती) और पृथिवी (द्यावासहित)। इनकी काया, शक्ति आदि का भी पौराणिक विधान हो गया है और वैदिक लक्षणों से यदि हम उन्हें पहचानना चाहें तो पहचान भी नहीं सकते। सरस्वती और भारती अब अलग-अलग देवियाँ नहीं रहीं, दोनों मिलकर एक हो गई हैं और समान रूप से ज्ञान की देवी हैं। इस काल की विशिष्ट देवियाँ लक्ष्मी, पार्वती और सप्तमातृकायें हैं जिनकी मूरतों से उस काल के मन्दिर भरे हैं।

इन देव-योनियों के साथ ही अर्द्धदैवी योनियों का भी कवि ने परस्पर वर्णन किया है। गन्धर्व, यक्ष, किन्नर (किम्पुरुष), पुण्यजन, विद्याधर और सिद्ध उसी वर्ग के हैं। इनमें गन्धर्वों की नारियाँ (देवपरिवार के साथ रहनेवाली) अप्सरायें या सुरांगनायें थीं, यक्षों की यक्षिणियाँ, किन्नरों की किन्नरियाँ अथवा अश्वमुखियाँ और सिद्धों की सिद्धांगनायें।

अब तक देवता और देवियों के परिवार बढ़ चुके हैं। उनके वाहन आदि भी देवता की ही भाँति स्तुति पाने लगे हैं, जैसे वृष, शिव का वाहन नन्दी, विष्णु का वाहन गरुड़, विष्णु की शय्या शेषनाग, पार्वती का वाहन सिंह। गाय पूज्य हो गई है और युग के विश्वास में गाय और सिंह दोनों मनुष्य की भाषा बोल सकते हैं। इन्द्र के वाहन ऐरावत का भी एक स्थल पर उल्लेख हुआ है। नदियाँ पहले भी पूजनीया थीं, अब उनका माहात्म्य और बढ़ गया है। गंगा और यमुना महान् देवताओं की चँवर-वाहिनी परिचारिकायें बन गई हैं और मन्दिरों में सर्वदा द्वार के दोनों ओर क्रमशः मगर और कछुए पर चढ़ी प्रदर्शित होती हैं।

ब्रह्मावर्त की नदी सरस्वती अब स्वतंत्र रूप से पूजी जाने लगी है और अदृश्य रूप से गंगा और यमुना से प्रयाग में मिलकर त्रिवेणी बनाती है।

देवताओं के शत्रु भी संख्या में उनसे कुछ कम नहीं हैं। जिस अनुपात में देवताओं की संख्या बढ़ी है दैत्यों की संख्या भी प्रायः उसी अनुपात में बढ़ी है। कारण यह है कि बग़ैर उनकी शक्ति बढ़ाये उनके संहर्ता देवताओं की शक्ति आराध्य नहीं जँच सकती थी। इसी से रावण असाधारण शक्तिमान् है कि राम की शक्ति महत्तर हो जाय। रावण, कालिया, तारक, लवण का प्रबल दैत्यों के रूप में कालिदास के ग्रन्थों में भी वर्णन हुआ है। उसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्य को निगल जाने वाले राहु और केतु का भी कवि ने पौराणिक वर्णन ही किया है। शिव के गणों का दूसरा नाम भूत है। इसी प्रकार पार्वती की अनुचरियाँ योगिनियाँ हैं। शाकुन्तल में विदूषक को भूत लग जाता है जो दिखाई नहीं पड़ता।

वनदेवताओं की ओर भी इन ग्रन्थों में संकेत हुआ है। इसी प्रकार पितर, सप्तर्षि (ब्रह्मर्षि) और ऋषि-मुनि भी विशिष्ट शक्ति और पूजा के योग्य माने गये हैं। प्राचीन पौराणिक व्यक्ति इस रूप में निर्दिष्ट हुए हैं जैसे वे देवतुल्य हों। इनमें प्रधान हैं, परशुराम, कार्त्तवीर्यार्जुन, सगर, ययाति, दिलीप, रघु, अज। राम की तो उत्पन्न होने के साथ ही विष्णुवत् आराधना की गई है, इससे हमने उनका उल्लेख विष्णु के अवतारों में ही किया है।

ऊपर के सारे देवताओं, उनके पार्षदों, वाहनों आदि की उस काल मूर्तियाँ बनीं और पूजी जाती थीं। यज्ञ-हवन वैदिक रूप में अब भी होते थे परन्तु विशिष्ट अवसरों पर। राजा राज-

सूय आदि यज्ञ अब भी करते थे। अवश्मेध तो बाद तक होता रहा था। कालिदास के युग में भी समुद्रगुप्त ने किया ही था। यज्ञ करके स्नान करने की विधि थी जिसे अवभृथ-स्नान कहते थे। साधारण पूजा की विधि बदल गई थी। अनुष्ठानों और व्रतों का बाहुल्य हो गया था। व्रत के समय उपवास साधारण क्रिया थी। व्रत समाप्त होने के बाद पारण के साथ उपवास तोड़ा जाता था। अधिकतर ब्राह्मण-भोजन के बाद ही पारण होता था। पति के विरह में पत्नियाँ विरह-व्रत धारण करती थीं, और उसके अप्रसन्न होने पर प्रियप्रसादन-व्रत करती थीं। कुछ लोग प्रायोपवेश (थोड़ा-थोड़ा करके भोजन सर्वथा छोड़ देना) करके प्राण छोड़ते थे। प्रगट है कि यह व्रत हिन्दुओं में जैनों के अनुकरण से चला था। कालिदास ने दिलीप के गोव्रत का बड़ी निष्ठा से वर्णन किया है। असिधाराव्रत संभवतः पत्नी के साथ एक ही शय्या पर सोकर भी रति से विरत रहना था। इसका अनुष्ठान अत्यन्त कठिन होने के कारण किसी भी असाधारण कर्म को व्यक्त करने का सांकेतिक पद बन गया। तीर्थयात्रा पर भी तब विशेष ज़ोर दिया जाने लगा। तीर्थों, संगमों आदि पर स्नान पुण्य-संचय का साधन बन गया। कवि ने शचीतीर्थ, त्रिवेणी-संगम, गंगा, सरयू, गंडक आदि में स्नान को बड़ा पवित्र माना है। सोमतीर्थ (प्रभास) में जाकर कण्व शकुन्तला की ग्रहदशा का निवारण करते हैं। कवि ने गोकर्ण, पुष्कर, अप्सरा (तीर्थ) आदि तीर्थों का भी उल्लेख किया है। वहाँ स्नान करने से जन्म-मरण के बन्धन से प्राणी मुक्त हो जाता है, ऐसा कवि का भी विश्वास है। उससे देवयोनि भी मिल सकती थी। राज्याभिषेक के लिये अन्य स्थानों के साथ-साथ तीर्थों से भी जल लाया जाता था।

कालिदास ने अपने युग में प्रचलित उत्सवों का भी वर्णन किया है। पुरुहूत का उत्सव वर्षा में पहली बार इन्द्रधनुष का दर्शन होने पर मनाया जाता था। भादों की अष्टमी से द्वादशी तक पाँच दिन इन्द्र की पूजा के साथ वह उत्सव होता था। वसन्त के लौटने पर ऋतूत्सव होता था। इसका देवता काम था जिसकी आम की मंजरियों से पूजा की जाती थी। आजकल इसका स्थान होली ने ले लिया है जब रंगों से लोग एक दूसरे का स्वागत करते हैं। वसन्त के अवसर पर नाटक भी खेले जाते थे। नये नाटकों का आरंभ भी संभवतः तभी होता था। कालिदास का मालविकाग्निमित्र वसन्तोत्सव के अवसर पर ही खेला गया था। एक प्रकार की पूजा या बलि काकबलि कहलाती थी, जब पति के प्रवास में पत्नी उसकी रक्षा के लिये पूजा करती थी। वह सामने द्वार पर उतने फूल बाँधकर लटका देती थी जितने दिन पति को बाहर रहना होता था और नित्य एक फूल देहली पर चढ़ाती थी। विरह के क्षणों में ऐसे चढ़ाये फूलों को बारबार गिनना भी एक मन बहलाने का बहाना बन जाता था। यक्ष की पत्नी ने ऐसे ही काकबलि की थी। पूर्णिमा की शाम को लोग (जनता) घरों से बाहर निकल कर मैदानों में डूबते सूरज और उगते चन्द्रमा को देखने निकल आते थे, जब दोनों पलड़े जैसे बराबर रहते थे। बाद में संभवतः कोई पूजा भी होती थी।

उस काल के लौकिक विश्वासों के प्रति भी कवि ने प्रभूत संकेत किये हैं। संसार की सभी प्राचीन जातियों में अन्धविश्वास ख़ूब फले-फूले हैं और कालिदास-कालीन भारतीय उस नियम के अपवाद किसी रूप में न थे। आज की ही भाँति तब भी नारी की दाहिनी आँख का फड़कना अशुभ और बायीं आँख का फड़कना

शुभ माना जाता था। पुरुष के संबन्ध में विश्वास संभवतः ठीक इसके विपरीत था। इसी प्रकार पुरुष की दाहिनी भुजा का फड़कना शुभ और कल्याणकर माना जाता था। गीदड़ की आवाज़ अशुभ थी और उसे सुनते ही काय स्थगित कर दिया जाता था। गिद्ध का ध्वजा के ऊपर मँडराना भी उसी प्रकार अशुभ और पराजय तथा मृत्यु का सूचक था।

रक्षा (जादू, टोने आदि से) के लिये बच्चों को ताबीज़ (रक्षाकरण्डक) पहनाते थे। इसी प्रकार पुरुष भी विजय के अर्थ जैत्राभरण (जयश्रियःवलयः) पहनते थे। धातु की ताबीज़ में अपराजिता नाम की जड़ी (ओषधि) इसलिये बन्द करके पहन ली जाती थी कि भूत-पिशाचों और टोना-जादू से जान बची रहे। यह भरत (शाकुन्तल) को पहनायी गई थी और लोगों का विश्वास था कि यदि कोई व्यक्ति अनुचित कामना से बालक को पकड़ेगा तो अपराजिता (लता) सर्प बनकर उसे तत्काल डँस लेगी (सर्पोभूत्वा दशति)। लोगों का विश्वास था कि तिरस्करिणी विद्या को सिद्ध कर आदमी अन्तर्धान हो सकता है। वह तब सबको देखेगा पर स्वयं उसे कोई नहीं देख सकेगा। एक शिखाबन्धन-विद्या का भी उल्लेख हुआ है। उसका दूसरा नाम अपराजिता था। मन्त्र पढ़ते हुए शिखा बाँधी जाती थी और जब तक शिखा बँधी रहती थी दैत्य-पिशाच बाँधनेवाले का कुछ बिगाड़ नहीं सकते थे। कालिदास का कहना है कि यह विद्या बृहस्पति ने अप्सराओं को सिखा दी थी। हस्तरेखाओं द्वारा भविष्य सूचित होने की बात भी कुमारसम्भव में कही गई है। आज भी सर्वत्र यह विश्वास साधारणतः प्रचलित है। कवि ने नक्षत्र का मानवों पर शुभाशुभ प्रभाव डालना भी लिखा है।

दैवचिन्तक भाग्य का प्राक्कथन किया करते थे। दैवचिन्तक प्रायः राजदरबारों में रखे जाते थे। उलटे भाग्य का अनुष्ठान द्वारा अनुकूल बना लेना संभव माना जाता था।

इसी प्रकार लोगों का विश्वास था कि हंस दूध और पानी को अलग-अलग कर देने का सामर्थ्य रखता है। ऐसा विश्वास लोगों का आज भी है। तब भी लोग मानते थे कि कोयल अपना बच्चा कौवे के पास पालने के लिये छोड़ आती है। दुष्यन्त ने शकुन्तला के प्रति इस प्रकार के एक वक्तव्य द्वारा व्यंग्य किया है।

लोगों का विचार था कि भूतों की भी एक योनि है और वे फिरते रहते हैं। कभी-कभी वे लोगों को 'लग' भी जाते हैं। मकानों पर भी जब तब वे छा जाया करते हैं। इसी प्रकार लोग मानते थे कि देवता इष्ट किये जा सकते हैं और 'अणिमा', 'लघिमा' आदि सिद्धियाँ सिद्ध कर आदमी असंभव भी संभव कर सकता है। इनके ज़रिये आदमी आकाश में उड़ भी सकता है। लोग मानते थे कि योग के साधन से बन्द द्वार के भीतर भी उसे बग़ैर खोले जाया जा सकता है। तप की शक्तियों में भी लोगों को विश्वास था और अनेक साधु नाना प्रकार की यातनाओं से असंभव को संभव करने के लिये अपने को अल्पप्राण करते रहते थे। उनका इस प्रकार तप करना जब-तब सीधे लोगों को धोखे में भी डाल दिया करता होगा क्योंकि अन्धविश्वासी इष्ट के लिये कुछ भी कर सकता है। जब आज के इस वैज्ञानिक युग में भी लोग कुधातुओं से सोना बनवाने के प्रयत्न में धोखे में आ जाते हैं, तब विश्वासों की दुनिया में पलनेवालों का भला क्या हाल रहा होगा!

यह लोगों का प्रायः साधारण विश्वास था कि अपने धन में जीवन भर मन लगाये रहनेवाला सूम मरने के बाद साँप होकर

अपने धन की रक्षा करता है, जिससे उसका अपहरण करने की कामना करनेवाला ख़तरे में पड़ जाय। यह विश्वास अत्यन्त प्राचीन है। इसका आरंभ संभवत: इस समानता से हुआ होगा कि धन उसी भूमि के निचले तह में गड़ा रहता है जहाँ साँप भी रहता है। साँपों के बिल में रहने से तो उनके पातालवासी होने का विश्वास जमा और पाताल में अमृत, नागकन्या आदि के होने के भी अनेक अन्धविश्वास जड़ पकड़ गये।

लोगों का विचार था, जैसा आज भी है, कि मन्त्र द्वारा साँप की मति मारी जा सकती है और उसे एक घेरे में बाँधा जा सकता है। साँप काटे हुये व्यक्ति को उद्कुम्भ-विधान द्वारा अच्छा करने के प्रयत्न किये जाते थे। भैरवतन्त्र में उसका विधान है। मंत्रपूत कलश के जल से वह जोग किया जाता था। सर्पाकृति की कोई वस्तु भी साँप का विष झाड़ने में सहायक हो सकती थी। मालविकाग्निमित्र का विदूषक साँप काटने का बहाना करने पर इसी विधि से अच्छा होता है। पर यह भी विश्वास था कि बहाना करनेवाले को बहाना की हुई बात लग जाती है। यानी अगर कोई साँप काटने का बहाना करे तो साँप उसे काटेगा ही। इसी से विदूषक फूलों की माला से डर कर कहता है कि ग़नीमत है कि साँप का बहाना करने पर साँप से डर मात्र जाने से जान छूटी।

लगता है कि लोग पुराणों की कथा पढ़ते और कहते-सुनते थे। वे समाज में पर्याप्ति रूप से प्रचलित हो चुकी थीं। सगर के घोड़े और कपिल मुनि की कथा, कलश से अगस्त्य का जन्म होना, विष्णु के अँगूठे से गंगा का जन्म और भगीरथ द्वारा आकाश और शिव की जटा से पृथ्वी पर उतार लाना, आदि साधारण विश्वास की बात बन गये थे। इसी प्रकार पर्वतों का चट्टान

बरसाना, उनका उड़ना, देवताओं का आकाश में विचरण करना, विष्णु का वामन बन कर बलि को छलना, महावराह का पृथ्वी का उद्धार करना, इन्दुमती का पहले हरिणी नाम की अप्सरा होना, उर्वशी-मेनका का स्वर्ग से आकर पृथ्वी पर रहना, या अप्सराओं का ही देवलोक में होना आदि अनन्त पौराणिक कथाएँ लोगों का साधारण विश्वास बन गई थीं। शमी वृक्ष में अग्नि का निवास भी उसी प्रकार का विश्वास था। वस्तुतः वह युग इस मात्रा में पौराणिक था कि कवि निश्चित उनका उपयोग करते थे और भले प्रकार समझ लिये जाते थे।

लोग जन्म को दुःख मानते थे और आत्मा के आवागमन में उनका विश्वास था। परलोक का काल्पनिक संसार उनके मन में सदा पैठा रहता था। मृत्यु सभी प्राणियों का अनिवार्य और सहज धर्म मानी जाती थी। मरे हुओं के लिये निरन्तर रोना मृतक के लिये कष्टकर समझा जाता था। यम परलोक (या नरक) का स्वामी कहा गया है। परलोक जाकर भी पृथ्वी के सम्बन्धियों से श्राद्ध द्वारा आहार पाना स्वाभाविक हो गया था। इसका अर्थ था कि प्रेत (मृतक) कहीं अन्यत्र जाकर रह रहा है। पुण्य और पाप के फलस्वरूप स्वर्ग या नरक में जाने का विश्वास बहुत पुराना था। स्वर्ग में देवताओं और देवांगनाओं का साथ होता था। जो स्वर्ग नहीं जा पाते थे और नरक के लायक़ जिनके पाप पर्याप्त न होते वे पितृलोक को जाते थे। पितर मरे हुए पूर्वजों को कहते थे। उन्हें श्राद्ध द्वारा अन्न-जल पहुँचाना सन्तान के लिये आवश्यक था। पुत्र उत्पन्न कर पितृ-ऋण से मुक्त होने का यही अर्थ था। दुष्यन्त और दिलीप का निःसन्तान रहना इसीलिये बड़ा शोचनीय हो गया था।

आठवाँ परिच्छेद

'कविगणगणनारम्भे'

समुद्रमंथन वाले पौराणिक इतिवृत्त को यदि आज नये सिरे से पुराणकार को कहना पड़े तो निश्चय वह संप्राप्त रत्नों के नाम या तो बदल कर कहेगा या उनकी गणना चौदह से पन्द्रह कर देगा, और पन्द्रहवाँ रत्न वह कालिदास को गिनेगा, फिर भी उन रत्नों और कालिदास में अन्तर बना ही रहेगा। अन्तर सन्दिग्ध और सत्य का। मनुष्य ने उन रत्नों के दर्शन नहीं किये, पर देशकालातीत कालिदास के दर्शन-स्पर्श सबने किये, उसकी श्रुतिमाधुरी सबने चखी। कोई उसकी भारती के आस्वाद से विरत न रह सका। जो रहा वह अभागा!

कितना तरल, कितना सरल, कितना मधुर है वह भारतीय काव्योद्यान का अभिराम कल्पतरु। निःसन्देह कल्पतरु है कालिदास। उससे कुछ भी असंभाव्य नहीं। कुछ भी अज्ञेय नहीं। महाकवि ने रघुवंश के आरंभ में ही कामधेनु की कथा कही है। उसमें संभव है किसी को सन्देह हो पर स्वयं कालिदास की कामधेनुतामें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। कामरूप है कवि स्वयं अनन्त कामचारी, उसे कुछ भी अलभ्य नहीं, कुछ भी अशक्य नहीं।

अपने दिलीप के लिये कवि ने लिखा है—तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना'—उसे विधाता ने महाभूत तत्वों से सिरजा था।

वस्तुतः यह स्थिति स्वयं कालिदास की है। आलोचक का साधारण मानदण्ड उसकी ऊंचाई-गहराई नहीं आँक सकता। समीक्षा की जिज्ञासा सहसा मोहाच्छादित हो जाती है। आलोचक का मानदण्ड तुल्यकुलज कवियों की सापेक्ष्य प्रतिभाओं की तुलना पर आश्रित रहता है। कालिदास के संबंध में तुल्य-कुलज कोई है ही नहीं। अपना-सा वह अकेला है। साँचे में ढाल कर साँचा तोड़ देनेवाली यह बात हुई। करतार ने जिस साँचे में उस अनन्य को ढाला उस साँचे को तोड़ दिया कि कहीं वैसा ही कोई और न ढल जाय!

कालिदास का कृतित्व बड़ा है, उसकी परिधि भी बड़ी है, कृतियों की संख्या भी कम नहीं। पर आज के मुद्रण जगत की प्रकाशन-तीव्रता में उसका परिमाण कुछ ऐसा दुर्लंघ्य भी नहीं है। जहाँ सौ-सौ रचनाओं के स्रष्टा अपना-अपना निजी साहित्य अपने नाम के आगे जोड़ अभिमान और विजय से हुंकार करते हैं वहाँ केवल सात कृतियों—तीन नाटक, चार काव्यों—का रचयिता क्या विसात रखता है? नगण्य ही है।

पर उसकी महानता उसकी कृतियों की संख्या में नहीं है, उसकी साहित्य-कारिता में है, आकार में नहीं प्रकार में है। एक से एक मेधावी समीक्षक ने उन्हें देश-विदेश में पढ़ा है, गुना है, और अवाक् हो गया है। चारुता के जादू ने, भाव के विलास ने, प्रसाद की अकृत्रिमता ने, उक्ति के चमत्कार ने, वाणी के विलास ने, ध्वनि की व्यापकता ने उसे मूढ़ कर दिया है। एक-एक कृति, कृति की एक-एक उक्ति, का शब्द-शब्द गुना गया है, हज़ारों ने गुना है, डेढ़ हजार साल गुना है, दिनरात, पर कालिदास की काव्य-काया को कोई हाथ नहीं लगा सका है। देशकाल

की सीमाओं से परे आज भी उस महाकवि का जादू हम पर छाया हुआ है और हम उसे पढ़ते थकते नहीं, ऊबते नहीं। कवि गणों की गणना के आरंभ में उसके नाम पर 'कठिनी सुसम्भ्रम, गिरती है। वस्तुतः उसका नाम गिनलेने के बाद कवि गणना के प्रसंग में वाणी मूक हो जाती है, कनिष्ठिका के बाद वाली उंगली 'अनामिका' ही रह जाती है!

पर कालिदास केवल ध्वनि का, वाणी का, मार्मिक उद्‌गिरण का ही धनी नहीं है, परिमाण का भी है, विपुल कायिक परिमाण का। जो उसकी रचनाओं की संख्या की ओर संकेत करते हैं उन्हें थोड़े में अत्यधिक कहने वाले उस महाकवि के ज्ञान भाण्डार का अन्दाज़ नहीं। ज्ञान-विज्ञान, अर्थशास्त्र-राजनीति, काम-शास्त्र, धर्मशास्त्र, कल्प-ज्योतिष, शिक्षा-व्याकरण, वेद-उपवेद, दर्शन-साहित्य, कला-संगीत, इतिहास-पुराण सभी कुछ उसके जिह्वाग्र पर है। और यह तो उसके ज्ञान भाण्डार की ओर मात्र संकेत है, वरना उसके ज्ञान की परिधि भला कौन बाँध सकता है? पाण्डित्य की जिस दिशा की ओर पाठक की दृष्टि जाती है कालिदास की रचनाओं में उसका कुछ ऐसा सूत उसे हाथ लगता है कि संदिष्ट दिशा के ज्ञान की अमितता से वह अवसन्न हो जाता है। और जितना व्यक्त है, काव्यों में अनावृत, उतना स्वयं प्रतिभा द्वारा असाध्य है। फिर इस व्यक्त से अव्यक्त की परिधि बड़ी है, कवि का व्यक्तित्व उसके निरावृत ज्ञान से महत्तर है।

उस व्यक्तित्व के दर्शन हमें किसी चाटुकार के शब्दों द्वारा नहीं होते, उसकी रचनाओं की रुचिर कान्ति, अप्रतिम कर्तृत्व से ही होते हैं, नितान्त अमिट। जीवन अधिक जीव्य हो जाता

है, कठिनाइयाँ सरल हो आती हैं। करुण मन को मथता है पर उदात्त उस पर विजयी हो उठता है। 'करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्' करुण है, मनोहर, पर 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः' उससे कहीं सबल है, मर्मभर।

महामना कालिदास की अभिराम चिररुचिर भारती कभी बासी नहीं हो सकती। उसका अध्ययन सदा सहृदयों को आर्द्र अभितृप्त करता रहेगा। स्वयं महाकवि अमरों की परम्परा में प्रवेश कर चुका है। हम भी किसी की वाणी में शब्द बदल कर कहते हैं—

यॉवत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावत्कालिदासमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

भारतीय विद्याभवन के प्रकाशन

(१) गृह - भारती

इस पुस्तकमाला के अंतर्गत साहित्य और भाषाशास्त्र, इतिहास और जीवनी, कला और पुरातत्त्व, धर्म और दर्शन, समाजशास्त्र और विज्ञान आदि विषयों पर डबल-क्राउन सोलहपेजी आकार में लगभग दो-दो सौ पृष्ठों की पुस्तकें प्रकाशित करने का आयोजन है। पुस्तकें शास्त्रीय स्तर की, किंतु ऐसी भाषा में लिखी गई होंगी कि साधारण पाठकों को सहज में बोधगम्य हों। प्रत्येक पुस्तक प्रायः ६० से ७५ हज़ार शब्दों की होगी और समान आकार-प्रकार में नयनाभिराम ढंग से मुद्रित तथा सजिल्द होगी और आवश्यकतानुसार चित्रादि से सुसज्जित होगी।

पुस्तकों के नीचे लिखे हुए शीर्षक सांकेतिक मात्र हैं और उनमें हेर-फेर हो सकता है। इस पुस्तक माला में १०० पुस्तकें प्रकाशित की जाएंगी।

साहित्य व भाषाशास्त्र

वेद-परिचय
संस्कृत साहित्य
कालिदास
हिंदी साहित्य
रवींद्रनाथ
रूसी साहित्य
सिद्ध साहित्य
चीनी साहित्य
भाषाविज्ञान
भारतीय भाषाएं
चीनी आत्मशिक्षक

इतिहास और जीवनी

भारतीय संस्कृति का इतिहास
भारत के लोगों का इतिहास
संसार के इतिहास की झाँकी
भारत गौरव
वृहत्तर भारत
विस्मृत सभ्यता
महात्मा गांधी
आइंस्टाइन

कला और पुरातत्व

भारतीय पुरातत्व
भारतीय संगीत
भारत के नृत्य
भारतीय मूर्तिकला
भारतीय चित्रकला
कला मीमांसा
यूरोपीय कला
सिंधु सभ्यता

धर्म और दर्शन

भारतीय अध्यात्म
भारतीय दर्शन की रूपरेखा
पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शन
संसार के महान् धर्म

आधुनिक मनस्तत्व
अरविंद की विचारधारा

समाजशास्त्र

लोकवार्ता
आधुनिक राजव्यवस्था
न्यायशास्त्र
राजनीति के सिद्धांत
भारतीय अर्थव्यवस्था
अर्थशास्त्र के सिद्धांत
आधुनिक संविधान
भारतीय संविधान
शिक्षा-मनोविज्ञान
समाचारपत्र
भारतीय ग्राम समाज
बनजारे
विकास योजनाएं
कृषि व्यवस्था
घरेलू उद्योगधंधे

विज्ञान

मानव-विज्ञान
विज्ञान की रूपरेखा
आधुनिक भूगोल
आकाश-विद्या
जीवरहस्य
विकासवाद
परमाणु के चमत्कार
सापेक्षवाद
भूतत्व

विविध

आहारशास्त्र
कामशास्त्र
रोगीचर्या
घरेलू उपचार
प्राचीन भारत के मनोरंजन

(२) अमर-भारती

इस पुस्तक माला के अंतर्गत संसार का सर्वोत्तम साहित्य मूल भाषा से जैसे अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटालियन, स्पैनिश, रूसी, यूनानी आदि पाश्चात्य व चीनी, जापानी, अरबी, फारसी आदि एशियाई एवं संस्कृत, तामिल, तेलगु, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं से हिन्दी भाषान्तर कराकर प्रकाशित करने की योजना है।

इस योजना में सर्वप्रथम यूनेस्को द्वारा चुनी गई विश्व साहित्य की २०० पुस्तकों का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया गया है। ये पुस्तक डिमाई ८ पेजी आकार में प्रकाशित होंगी। ५) अग्रिम भेजकर उपर्युक्त पुस्तक मालाओं के स्थाई ग्राहक बन जाने वालों को प्रत्येक प्रकाशन की पूर्व सूचना देने के उपरान्त निर्धारित मूल्य पर बिना डाक-व्यय के पुस्तकें भेजी जाएंगी।

भारतीय विद्याभवन
इलाहाबाद

भारतीय विद्याभवन
इलाहाबाद